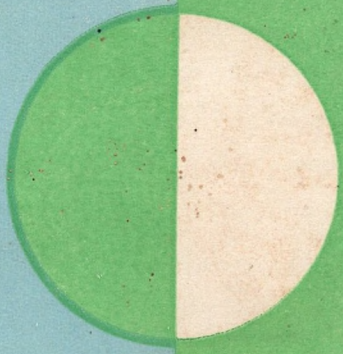

જ્યોતિ ફિરવા

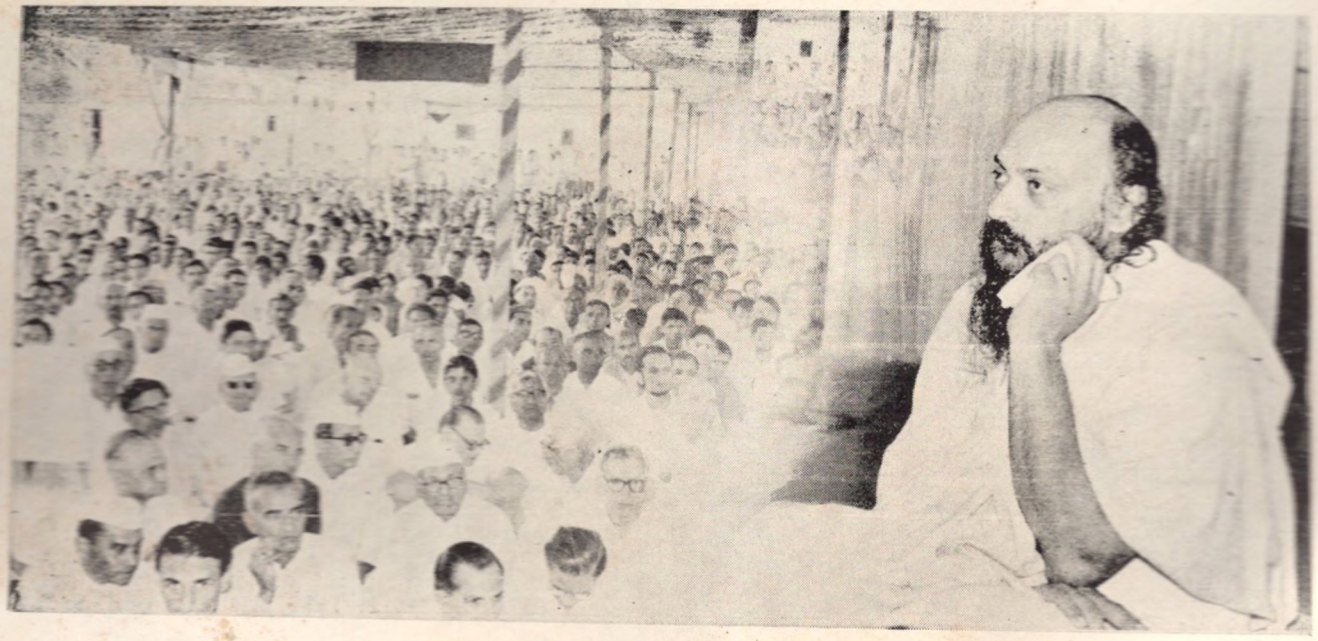

लगभग १० हजार श्रोताओं की उपस्थिति में राजकोट में व्याख्यान देते हुए आचार्यश्री रजनीशजी

" ज्योति शिखा "

आचार्य श्री रजनीश की अमृतवाणी का त्रैमासिक संकलन

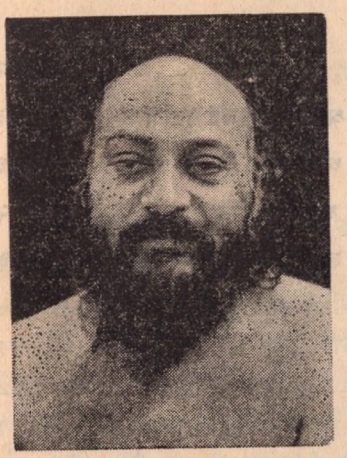

• सातवां संकलन
दिसंबर, १९६७

• मानार्ह संपादक :
श्री जटुभाई महेता

★

• संपादक मंडल :
श्री दुर्लभजीभाई खेताणी
श्रीमती पूर्णिमाबहेन पकवासा

★

• मुद्रक–प्रकाशक :
श्री रमणलाल सी. शाह
जीवन जागृति केन्द्र
५०५, कालबादेवी, बंबई –२.

★

• मुद्रण स्थान :
स्टेट्स पीपल प्रस,
घोघा स्ट्रीट, बंबई–१

★

• मूल्य:–वार्षिक रु. ५–००
एक प्रति:– रु. १–२५

निवेदन

आचार्य श्री रजनीशजी के आगामी कार्यक्रमोंकी जानकारी के लिये कृपया अंतिम पृष्ठ देखें।

अनुक्रमिका

क्रमांक	विषय	संकलक	पृष्ठ
१	स्वतंत्रताकी ओर	श्री सौभाग्यचंद्र तुरखिया	३
२	संध्या के तारे	श्री अजित M. Com.	२६
३	धर्म विचार नहीं, उपचार	श्री अनूप सेठ	३२
४	ज्ञान गंगा	डॉ. सेठ गोविंददास	५३
५	समाचार विभाग	श्री जटुभाई महेता	८०

धर्म का हिंदु, मुसलमान, बौद्ध और जैन से कोई संबंध नहीं :

व्यक्ति के जीवन से जब "मैं" का भ्रांत बोध गिरता है, तभी केवल व्यक्ति सत्य के जीवन में दीक्षित होता है। मेरे देखे धर्म का कोई संबंध किसी विशेषण से नहीं है। धर्म तो जीवन्त सत्ता का अनुभव है, तब वह हिन्दु, मुसलमान, बौद्ध अथवा जैन से कैसे संबंधित हो सकता है? क्या हवा, पानी, पृथ्वी और आकाश अथवा प्रकृति की कोई जीवन्त सत्ता किसी भी सीमा में बंधी है? यदि नहीं, तो फिर धर्म को भी किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता है।

"मैं" के अहं बोध को उसकी आत्यंतिक गहराई में जानना "मैं" के बोध से व्यक्ति को मुक्त करता है। लेकिन व्यक्ति पूरे जीवन भर अपने अहं के इस केन्द्र पर जीता रहता है और सीमाओं में बंधा रहकर मुक्त सांस नहीं ले पाता है। जबकि प्रकृति की इस असीम सत्ता में सभी को मुक्त सांस लेने का पूर्ण अधिकार है और यह संभव होता है, "मैं" को पूर्ण होश से सतत् देखते रहने से।

स्वतंत्रता की ओर :

क्रास मैदान, बंबई में दिया गया प्रवचन :

संकलन : श्री सौभाग्यचंद्र तुरखिया

एक रेगिस्तानी सराय में एक बडा काफिला आया था। यात्री थके हुये थे और ऊंट भी थके हुये थे। ऊंटों के मालिक ने खूंटियां गडवाईं और ऊंटों के लिये रस्सियां बंधवाईं जिससे कि वे विश्राम कर सकें। लेकिन खूंटियां गाडते पता चला कि उनमें से एक की खूंटी और रस्सी खो गई थी। उस ऊंट को खुला छोडना कठिन था, क्योंकि रात उसके भटक जाने की संभावना थी। उन्होंने सराय के मालिक को जाकर कहा: 'यदि हमें एक खूंटी और रस्सी मिल जाये तो बडी कृपा होगी क्योंकि हमारी एक खूंटी और रस्सी खो गई है।" सराय के मालिक ने कहा: "खूंटियां और रस्सियां तो हमारे पास नहीं हैं, लेकिन तुम ऐसा करो, खूंटी गाड दो और रस्सी बांध दो और ऊंट को कहो कि सो जाय। काफिले का मालिक तो बहुत हैरान हुआ। उसने कहा कि अगर खूंटी और रस्सी ही हमारे पास होती तो हम खुद ही न बांध देते? हम कौनसी खूंटी गाड दें और कौनसी रस्सी बांध दें?

सराय का मालिक इस पर हंसने लगा और बोला: यह जरुरी नहीं है कि ऊंट को असली खूंटी और असली रस्सी से ही बांधा जाये, नकली खूंटी से भी ऊंट बांधा जा सकता है। नकली खूंटी गाड दो और झूठी रस्सी ऊंट के गले पर बांध दो और उससे कहो कि वह सो जाय। और कोई रास्ता न था, विश्वास तो न आया कि यह बात हो सकेगी, फिर भी उन्होंने झूठी खूंटी गाडी। जो खूंटी नहीं थी उस पर उन्होंने चोटें कीं। ऊंट ने चोटें सुनी और समझा होगा कि खूंटी गाडी जा रही है और वह रस्सी जो नहीं थी, उसे उन्होंने उसके गले पर बांधा। ऊंट ने समझा होगा कि रस्सी बांधी जा रही है। जैसा उन्होंने और ऊंटों को सो जाने को कहा था, ऐसा ही उससे भी कहा वह ऊंट बैठ गया

और सो गया।

सुबह जब काफिला उस सराय से रवाना होने लगा तो उन्होंने ९९ ऊंटों की खूंटियां उखाडीं और रस्सियां खोली। लेकिन १०० वें ऊंट की तो कोई खूंटी थी नहीं, न कोई रस्सी थी। इसलिये न तो उसकी खूंटी उखाडी और न रस्सी खोली। निन्यानवे ऊंट तो उठकर खडे हो गये किन्तु १०० वें ऊंट ने उठने से इन्कार कर दिया। वे बहुत परेशान हुये। उन्होंने जाकर फिर उस सराय के बूढे मालिक को कहा कि तुमने कौनसा मंत्र किया है, हमारा ऊंट जमीन से बंधा रह गया, उठ नहीं रहा है। सारे ऊंट उठकर जाने को तैयार हो गये लेकिन १०० वां ऊंट जमीन पर वैसा ही बैठा है। उस सराय के बूढे मालिक ने कहा: "जाकर पहले खूंटी तो उखाडो, रस्सी तो खोलो? "वे बोले:" वहां न तो कोई खूंटी है, और न कोई रस्सी। मालिक ने कहा "तुम्हारे लिये नहीं होगी लेकिन ऊंट के लिय है, जाओ खूंटी उखाडो और रस्सी खोलो। जिस भांति झूठी खूंटी गडाई थी और झूठी रस्सी बांधी थी, उस भांति उन्हे निकालना भी तो होगा। वे गये। उन्होंने उस खूंटी को उखाडा जो कि नहीं थी और उस रस्सी को खोला जिसका कि कोई अस्तित्व नहीं था। ऊंट उठकर खडा हो गया और बाकी साथियों के साथ चलने को तैयार हो गया। वे बहुत हैरान हुये और उन्होंने सराय के मालिक से पूछा कि क्या रहस्य है इस बात का? उसने कहा :"न केवल ऊंट बल्कि आदमी भी ऐसी ही खूंटियों से बंधे होते है जिनका कि कोई अस्तित्व नहीं है और ऐसी ही रस्सियों में परतंत्र होते हैं जिनकी कि कोई सत्ता नहीं है। ऊंटों का मुझे कोई अनुभव नहीं है लेकिन मनुष्यों के अनुभव के आधार पर ही मैंने ऐसी सलाह तुम्हें दी थी!"

मैं भी उस सराय के बूढे मालिक से सहमत हूं। मनुष्यों को देखकर मैं भी इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ। मनुष्य की परतंत्रता भी अत्यन्त असत्य और काल्पनिक कारागृहों पर आधारित है। जिन जंजीरों की कोई भी सत्ता नहीं है, मनुष्य उनमें ही कैद है। और जो दीवारें स्व–निर्मित भ्रमों से ज्यादा नहीं हैं, मनुष्य उनके ही कारण मुक्त नहीं हो पाता है। आकाश की मुक्ति जिसका अधिकार हो सकती थी, वह अपने ही हाथों बनाये पिंजडों में पीडित होता रहता है। और एक व्यक्ति नहीं वरन् सारी मनुष्य जाति ही इस भांति की दासता से घिरी है। मनुष्य मात्र परतंत्र है। क्या यह सत्य आपको दिखाई नहीं पडता है? शायद नहीं। क्योंकि उसका दिखाई पडना ही दासता से मुक्त हो जाना है। गुलामी वास्तविक नहीं है कि उसे तोडना पडे। वह है काल्पनिक। इसलिये उसका दिखाई

पड जाना ही उसका टूट जाना है। इसलिये मैं मानसिक दासता की जंजीरों के दर्शन की यात्रा पर आज आपको ले चलना चाहता हूँ। उस ऊंट को यदि ज्ञात हो जाता कि वह झूठी खूंटी और रस्सी से बंधा है तो क्या वह उसी क्षण मुक्त नहीं था? क्या उसे फिर मुक्त होने के लिये कुछ और भी करना आवश्यक था?

स्वतंत्रता सत्य है। स्वतंत्रता स्वभाव है। उसे पाना नहीं है। वह उपलब्ध ही है। बस जो स्वप्नों की परतंत्रता से मुक्त हो जाता है, वह पाता है कि वह उसे सदा सदैव से उपलब्ध ही रही है। वह नित्य उपलब्ध की ही उपलब्धि है।

और परतंत्रता?

परतंत्रता अर्जित है। परतंत्रता कल्पित है। परतंत्रता अपने ही हाथों निर्मित है। वह असत्य आवरण है। वह झूठी खूंटी है। वह झूठी रस्सी है। इसलिये उसे जान लेना ही, उसे पहचान लेना ही, उसे समझ लेना ही उसकी मृत्यु बन जाती है। वह तो एक स्वप्न की भांति है, जिसका कि जागते ही कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है। लेकिन स्वप्न के भीतर ही स्वप्न बड़े सत्य मालुम होते है। ऐसी ही यह परतंत्रता भी बडी सत्य और वास्तविक प्रतीत होती है। क्या उस ऊंट के लिये उसकी खूंटी सत्य नहीं थी? क्या उसके लिये उसकी रस्सी वास्तविक नहीं थी? काश! उसने एक भी बार अपनी खूंटी–रस्सी पर संदेह किया होता.....विचार किया होता? लेकिन वह तो ऊंट ही था! उसे क्षमा भी किया जा सकता है!' लेकिन मनुष्य के लिये हम क्या कहे? मनुष्य को तो क्षमा नहीं किया जा सकता है। मनुष्य भी तो विचार नहीं करता है। मनुष्य भी तो आंखें खोलकर नहीं देखता है! वह भी तो नहीं पूछता है कि यह कौनसी परतंत्रता है जो कि उसे सब ओर से सब भांति घेरे हुये है? वह भी तो नहीं खोजता है कि वे कौनसे पत्थर हैं जो उसकी आत्मा को ऊंचाईयों पर नहीं उठने देते हैं? और कौन उन परतंत्रताओं को निर्मित करता है? कोई और या कि वह स्वयं? कौन उसे बांधता है, कोई और या कि वह स्वयं? और जिन बंधनों से वह बंधा है, वे वास्तविक भी है या कि नहीं? कहीं वह जीवन भर एक दुख स्वप्न ही तो नहीं देखता रहता है?

एक जंगल में एक बहेलिये के साथ मैं एक बार थोडी देर रुका था। उससे मैंने यह बात पूछी थी कि जिन तोतों को तुम पकडते हो, उन्हें तुम पकडते हो या कि वे खुद ही तुम्हारे जाल में फंस जाते हैं? उस बहेलिये ने कहा था, तुम मेरे साथ आओ और स्वयं देख लो। फिर तुम्हीं मुझे बता देना कि मैं उन्हें

पकडता हूं या कि वे खुदही मेरी पकड में आ जाते हैं? उसने एक रस्सी बांध रक्खी थी दो वृक्षों के बीच में और उस रस्सी की ऐंठन में बीच बीच में कुछ लकडियां फंसा रखी थीं। रस्सी के बीच कुछ अनाज के दाने डाल रखे थे। तोते उन लकडियों पर आकर बैठते और उनके वजन से लकडियां घूम जाती और तोते उल्टे लटक जाते। फिर वे बेचारे लकडियों को इतने जोर से पकड लेते कि कहीं गिर न जायें। गिरने के भय के कारण वे उन लडकियों को पकड लेते थे और उनको छोडने की सामर्थ्य और साहस नहीं कर पाते थे। इन लकडियों को छोडने से वे गिरने वाले नहीं थे। क्या वे भूल गये थे कि वे आकाश में उडने वाले पक्षी हैं? जिनके पास आकाश में उडने वाले पंख हों उन्हें जमीन पर गिरने का भय नहीं होना था? लेकिन इन पागल तोतों को समझाये कौन? आदमी ही नहीं सुनता है तो तोते क्या सुनेंगे? वे अपने ही हाथों उन लकडियों से बंध जाते थे जिनसे कि वे बिल्कुल भी बंधे हुये नहीं थे और बहेलिया उन्हें पकड लेता था। मैं यह देखकर चुपचाप खडा रह गया था तो बहेलिया हंसा था और पूछने लगा था: "कहिये मैं उन्हें पकडता हूं या कि वे स्वयं ही मेरी पकड में आ जाते हैं? मैं क्या कहता:" तोते अपने ही हाथ से फंसे थे। असल में जो स्वयं ही फंसने को राजी नहीं है, उसे फांस भी कोई कैसे सकता है? मैं स्वयं के सहयोग के बिना परतंत्र बनाया ही कैसे जा सकता हूँ? परतंत्रता सदा ही मेरी स्वीकृति है। अर्थात् मेरे अतिरिक्त मुझे और कोई परतंत्र नहीं बनाता है। फिर यह परतंत्रता दुख लाती है, पीडा लाती है और प्राण स्वतंत्रता के लिये आतुर हो उठते हैं। और इस भांति जीवन एक बेबूझ पहेली बन जाता है। स्वतंत्रता की खोज जीवन को और उलझाती है। असली सवाल स्वतंत्रता की खोज का नहीं है। असली सवाल परतंत्रता के पूर्ण दर्शन का है। क्योंकि उसे जानना ही उससे मुक्ति बन जाती है। और जो परतंत्रता की असलियत में उतरे बिना ही स्वतंत्रता की खोज में लग जाते हैं। उनकी यह खोज और नई परतंत्रताओं की जन्मदात्री बन जाती है। मोक्ष की खोज में लगे तथाकथित सन्यासियों के बंदी जीवन को देखकर यह भलीभांति समझा जा सकता है। स्वतंत्रता पानी नहीं है। वह कोई (Positive) विधायक लक्ष्य नहीं है। केवल परतंत्रता जाननी और खोनी है। उसे खोते ही जो शेष रह जाता है, वही स्वभाव है, वही स्वतंत्रता है। इसलिये स्वतंत्रता की साधना नकारात्मक (Negative) है।

स्वतंत्रता आनन्द है। स्वतंत्रता आलोक है। लेकिन फिर क्यों हम परतंत्र होने को राजी हो जाते हैं? यही पूछना है। यही खोजना है। निश्चय ही कुछ

कारण हैं 'जिनके कारण हम गुलामी में बंधते हैं और फिर धीरे धीरे गुलामी हमारी आदत हो जाती है। फिर हम इस गुलामी से पीड़ा भी पाते हैं, लेकिन हम गुलामी को छोडते भी नहीं है। शायद हमें इन दोनों का संबंध ही दिखाई नहीं पडता है। बल्कि पीडा से मुक्ति के उपाय में और भी गुलामी को बढाते चले जाते हैं।

मैं उन तोतों पर उस दोपहर में सोचता था कि कितने नासमझ हैं!' लेकिन आज मैं अपनी भूल को स्वीकार करता हूं। उस समय तक मनुष्य के मन को मैं ठीक से नहीं समझ पाया था। और अब जबकि मैंने मनुष्य के मन को ठीक से जाना है तो समझ पाया हूं कि तोते जो नासमझी करते हैं वे तो मनुष्य भी करते हैं, इसलिये तोतों पर हंसने का कोई कारण नहीं है।

क्या आपने कभी मछुओं को मछलियां पकडते हुये देखा है? जिस जाल में मछलियों को खींचकर वे किनारे पर रखते हैं अगर उस जाल में कभी उन मछलियों को देखें तो बहुत सी मछलियां जाल के भागों को अपने मुंह में पकडे हुये दिखाई पडेंगी। कोई उन पागल मछलियों को पूछे कि पागलो!' जाल की रस्सियों को क्यों पकड रखा है? तो शायद उसे पता चले कि मछलियां जैसे ही जाल म पडती हैं, वे अपने बचाव के लिये उन जाल के धागों को जोर से पकड लेती है ताकि वे धागे के सहारे अपनी रक्षा कर सकें! लेकिन वे जिन धागों को पकडती हैं वे धागे उसी जाल के होते हैं जो उन्हें ऊपर खींच लेता है और बांध लेता है, और जो उनकी मृत्यु बन जाता है। हम सारे लोग मी उन धागों को पकडे हुये हैं। शायद इस सुरक्षा के लिये कि हम बच जायें, शायद इस सुरक्षा के लिये कि वे धागे हमारे सहारे हो जाये लेकिन जो भूल मछलियां करती हैं, वही भूल हमसे भी हो जाती है। हम उन्हीं धागों को पकडे हुये हैं जो कि जाल के हैं और उनको पकडे होने के कारण जाल से छूटने में असमर्थ हो जाते हैं। लेकिन मछलियों के जाल हमें दिखाई पडते हैं और तोतों के जाल भी दिखाई पडते हैं किंतु आदमियों के मन का जाल और भी सूक्ष्म है। वह दिखाई नहीं पडता है, और जब तक हम उस जाल को ठीक से न देख ले तब तक हम उस संबंध में कुछ भी नहीं कर सकते हैं। और उसे ठीकसे देखने में सबसे बडी बाधा कौनसी है? सबसे बडी बाधा यही है कि हम उसे जाल ही नहीं समझ रहे हैं!' हम उसे ही अपनी सुरक्षा और स्वतंत्रता समझ रहे हैं, इसलिये ही कठिनाई बहुत बडी हो गई है। कौनसा जाल हमारे चित्त को बांधे हुये है और हम किन कारणों से परतंत्र हैं? इन बातों की ही आज की संध्या मैं आपसे चर्चा करना चाहता हूं।

इस संबंध में सबसे पहली बात जो एक जटिल जाल की तरह मनुष्य को घेर लेती है और जिसका हमें कभी ख्याल भी पैदा नहीं होता है और जिसके संबंध में हम कभी विचार भी नहीं करते हैं बल्कि जिसके संबंध में यदि कोई हमें चेताये तो शायद हम नाराज ही होंगे : वह है मनुष्य की यांत्रिकता। यह एक अत्यंत सीधा और सरल और स्पष्ट तथ्य है। लेकिन हम इसे एकदम से देखने और मानने को राजी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि वह हमारे सारे अहंकार को धूल धूसरित कर देता है। मनुष्य एक यंत्र है। एक मशीन। हम यंत्र की भांति जीते हैं, मशीनों की भांति। लेकिन हमें यह भ्रम है कि हम मनुष्य हैं। और हम स्वतंत्र हैं। साधारणतः मनुष्य एक यंत्र की भांति जीता है लेकिन वह सोचता है कि मैं यंत्र नहीं हूं। मैं आत्मा हूं। साधारणतः वह सोचता है कि मैं जो कर रहा हूं, वह मैं कर रहा हूं। लेकिन सचाई तो यह है कि हमसे कर्म होते हैं, हम उन्हें करते नहीं हैं। यदि हम कर्मों को करने में समर्थ हो जायें तो स्वतंत्र हो जायें। लेकिन हम कर्मों को करने में स्वतंत्र नहीं हैं। हम करीब करीब उसी तरह यंत्र चालित हैं जैसे कोई बटन को दबा दे और बिजली जल जाये, या कोई मोटर को चला दे और मोटर चल जाये। हमारा जीवन भी बाहर से अनुप्रेरित है। बाहर की घटनायें घटती हैं और हमारा जीवन भी उसके अनुसार ही उनकी प्रतिक्रियाओं (Reactions) में संचालित हो जाता है।

एक आदमी आपका अपमान करता है और आप क्रोध से जल उठते है। क्या यह जल उठना बिल्कुल यांत्रिक ही नहीं है? लेकिन कहेंगे आप यही कि मैंने क्रोध किया। आपने क्रोध किया या क्रोध आपको हुआ, क्या कभी आपने सोचा है कि क्रोध के करनेवाले आप हैं या क्रोध उसी तरह यंत्र की भांति पैदा होता है जैसे बटन दबाने से बिजली जल जाती है। धक्का देने पर क्रोध का पैदा होना बिल्कुल यांत्रिक (Mechanical) है। उसमें आपने कुछ किया नहीं। यह कहना भूल है कि मैंने क्रोध किया। यही कहना उचित है कि मुझमें क्रोध जागा। करने का भ्रम बहुत खतरनाक है। आप कहते हैं कि मुझे फलां व्यक्ति पर प्रेम है लेकिन शायद ही कभी आपने सोचा होगा कि प्रेम आप कर रहे हैं या कि प्रेम हो गया? आप प्रेम के करनेवाले हैं या कि एक मशीन की भांति संचालित हो गये हैं और आपके द्वारा प्रेम होता है।

बुद्ध एकगांव के पास से निकलते थे। कुछ लोगों ने उनपर पत्थर फेंके और उन्हें गालियां दी और अपमानित किया। बुद्ध ने उन मित्रों से कहा, मुझे दूसरे गांव जल्दी जाना है, अगर तुम्हारी बात पूरी हो गई हो तो मैं जाऊं या तुम्हारे

पत्थर तुम्हें और फैंकने बाकी हों तो थोडा और रुकूं, लेकिन ज्यादा देर न रुक सकूंगा। दूसरे गांव मुझे जल्दी पहुंचना है। उन लोगों ने कहा : क्या आप इसे बातचीत कहते हैं? हमने तो स्पष्ट ही अपमान किया है और गालियां दी है और पत्थर फेंके हैं । लेकिन क्या आपको यह दिखाई नहीं पडता है कि ये गालियां हैं, यह अपमान है? और आपकी आंखों में कोई क्रोध भी दिखाई नहीं पड रहा है! बुद्ध ने कहा: अगर दस वर्ष पहले तुम आये होते तो तुम मुझे क्रोधित करने में समर्थ हो जाते, क्योंकि तब मैं अपना मालिक नहीं था। तब मेरे भीतर सारी क्रियायें यांत्रिक थीं । मेरा कोई आदर करता तो मैं प्रसन्न होता और मुझे कोई गालियां देता तो मैं अपमानित होता। ये सारी क्रियायें बिल्कुल यंत्र की भांति होती, मैं इनका उस वख्त मालिक नहीं था। लेकिन तुम थोडी देर करके आये हो। अब मैं अपना मालिक हो गया हूं। अब कुछ भी मेरे भीतर यांत्रिक नहीं है। जो मैं नहीं करना चाहता हूँ, वह अब नहीं होता है। वही होता है, जो मैं करना चाहता हूँ।

जो मैं नहीं करना चाहता वह भी यदि मेरे भीतर होता हो तो उसे कर्म नहीं कहा जा सकता । वह एक्शन नहीं, रियेक्शन है, प्रतिकर्म है, प्रतिक्रिया है । हमारे जीवन में सब प्रतिक्रियायें हैं । और जिसके जीवन में सब प्रतिक्रियायें हैं, कोई कर्म नहीं है, उसके जीवन में कोई स्वतंत्रता संभव नहीं हो सकती । वह एक मशीन की भांति है, वह अभी मनुष्य नहीं है । क्या आपको कोई स्मरण आता है कि आपने कभी कोई कर्म किया हो । एक्शन कभी किया हो, जो आपके भीतर से जन्मा हो । जो बाहर की किसी घटना की प्रतिक्रिया या प्रतिध्वनि न हो । शायद ही आपको कोई ऐसी घटना याद आये जिसके आप करनेवाले मालिक हों । और अगर आपके भीतर आपके जीवन में ऐसी घटना नहीं है जिसके आप मालिक हैं तो इससे बडे आश्चर्य की और क्या बात हो सकती है ? क्या ऐसी स्थिति में स्वयं को अपना मालिक समझना शेखचिल्लियत ही नहीं है ? हम यही समझते रहते हैं कि हम कुछ कर रहे हैं और हम अपने कर्मो को करने में स्वतंत्र हैं । जबकि हमारा जीवन एक यंत्रवत्, एक मशीन की तरह चलता है । हमारा प्रेम हमारी घृणा और क्रोध, हमारी मित्रता, हमारी शत्रुता सब यांत्रिक हैं, मैकेनिकल है । उसमें कहीं कोई चेतना (Conseiousness) कहीं किसी स्वबोध का कोई अस्तित्व नहीं है । लेकिन हम इन सारे यांत्रिक कर्मो को करके सोचते हैं कि हम कर्त्ता हैं । मैं कुछ कर रहा हूं । और यह करने का भ्रम हमारी सबसे बडी परतंत्रता बन जाती है । यही वह खूंटी बन जाती है जिसके द्वारा हम

जीवन में कभी स्वतंत्र होने में समर्थ नहीं हो पाते और यही वह रस्सी बन जाती है जिसके द्वारा कभी हम अपने मालिक नहीं हो पाते। शायद आप सोचते हों कि जो आप सोचते है वह आप सोच रहे हैं तो भी आप गलती में हैं। एकाध विचार को स्वयं के चित्त से अलग करने की कोशिश करें तो आपको पता चल जायेगा कि आप विचारों के भी मालिक नहीं हैं। वे भी आ रहे हैं और जा रहे हैं जैसे समुद्र में लहरें उठ रही हैं और गिर रही हैं। जैसे आकाश में बादल घिर रहे हैं और मिट रहे हैं। जैसे वृक्षों में पत्ते लग रहे है और झड रहे हैं। वैसे ही विचार भी आ रहे हैं और जा रहे हैं, आप उनके भी मालिक नहीं हैं। इसलिये विचारक होने का केवल भ्रम है आपको, किन्तु आप विचारक हैं नहीं।

विचारक तो आप तभी हो सकते हैं जब आप अपने विचारों के मालिक हों। लेकिन एक विचार को भी अलग करने की कोशिश करें तब आपको पता चलेगा कि वह अलग होने से इन्कार कर देगा और तब आपको अपनी असमर्थता और कमजोरी का बोध होगा और तब शायद आप समझेंगे जैसे सांझ पक्षी अपने वृक्ष पर आकर डेरा ले लेते हैं, ऐसे चारों तरफ उडते हुये विचार भी आपके मन पर बसेरा कर लेते हैं। लेकिन आप उनके मालिक नहीं है।

और क्या कभी आपको ख्याल आया कि एकाध विचार आपके भीतर भी पैदा हुआ है? कोई एकाध विचार आपका भी है या कि सब विचार दूसरों के हैं और उधार हैं? अगर आपके भीतर कभी भी एक विचार का जन्म न हुआ हो जिसको आप कह सकें कि यह मेरा है तो आप निश्चित जान लें कि ये विचार जो आपके मालुम होते हैं... आपके नहीं हैं। वे सब उधार हैं और बाहर के हैं।

न तो कर्म हमारे हैं, वे यांत्रिक हैं और न विचार हमारे हैं, वे संगृहीत हैं। और इन्हीं कर्म और विचारों के कारण हम अपने को कर्त्ता और विचारक समझ लेते हैं। और जो ऐसा समझ लेता है वह यहीं रुक जाता है, उसके आगे की यात्रा बंद हो जाती है। ये दो बातें पहले सूत्र में जान लेनी जरुरी हैं कि न तो कर्म और विचार हमारी मालिकयत हैं। वे यांत्रिक हैं।

एक रात किसी होटल में एक नया मेहमान आकर ठहरा। ठहरते समय होटल के मालिक ने उसे कहा: "मित्र, कहीं और ठहर जायें तो अच्छा। होटल में केवल एक ही कमरा खाली है, वह हम आपको दे सकते हैं। लेकन उसके ठीक नीचे जो मेहमान ठहरा है, उसके कारण वह कमरा हम किसी को

भी देने में असमर्थ हैं। क्योंकि आप जो थोडे हिले डुले भी, थोडी आवाज भी आपसे हो गई तो उस व्यक्ति से आपका झगडा हो जाने की संभावना है। पहले भी जो लोग उस कमरे में ठहरे थे उनका नीचे के मेहमान से झगडा हो गया और इसलिये जबतक नीचे का मेहमान ठहरा हुआ है, हमने तय किया है कि ऊपर का कमरा खाली ही रक्खेंगे। उस नये अतिथि ने कहा : आप चिन्ता न करें। कोई संभावना नहीं है कि मेरा उनसे झगडा हो जाये। दिन भर मैं काम में व्यस्त रहूंगा और रात लौटूंगा, दो चार घंटे सोकर सुबह ही अपनी यात्रा पर आगे निकल जाऊंगा। इसलिये कमरा दे दें, कोई चिन्ता झगडे की न करें। कमरा दे दिया गया। वह मेहमान दिन भर गांव में काम करके रात लौटा। कोई बारह बज गये होंगे वह थका मांदा आया। उसे नीचे के मेहमान का कोई ख्याल भी न रहा। वह आकर बिस्तर पर बैठा। उसने एक जूता खोलकर नीचे पटका। जूते की आवाज से उसे ख्याल आया कि नीचे के व्यक्ति की नींद न उड जाये, इसलिये उसने दूसरा जूता आहिस्ते से खोलकर चुपचाप रख दिया और सो गया। कोई दो घंटे बाद नीचे के महानुभाव ने आकर उसका दरवाजा खटखटाया, वह नींद में से उठा। परेशान था कि सोते हुये मुझसे क्या भूल हो गई? उसने दरवाजा खोला। नीचे के मेहमान ने कहा : महाशय, आपका एक जूता गिरा तो मैंने समझा कि आप आगये हैं। लेकिन दूसरे जूते का क्या हुआ? उसने मेरी नींद खराब कर दी। मैंने इस विचार को निकालने की बहुत कोशिश की कि मुझे क्या मतलब है कि किसी दूसरे के जूते का क्या हुआ? कुछ भी हुआ हो लेकिन जितना ही मैं इस विचार को निकालने की कोशिश करने लगा, उतनी मैं मुसीबत में पड गया। सारी नींद धीरे धीरे उड गई और मुझे आपका दूसरा जूता हवा में लटका हुआ दिखाई पडने लगा, क्योंकि वह गिरा नहीं। मैंने उस जूते को हटाने की बहुत कोशिश की अपने मन से, लेकिन मैं अपनी आंख बंद करता तो आपका जूता लटका हुआ दिखाई पडता और मन में ख्याल आता कि दूसरे जूते का क्या हुआ? आखिर, कोई रास्ता न देखकर मैं आया हूं आपसे पूछने! मुझे क्षमा करें क्योंकि आपकी नींद मैंने तोडी है। लेकिन इसके सिवाय और कोई रास्ता न था। अब दूसरे जूते के संबंध में मेरी जिज्ञासा समाप्त हो जाये तो जाकर मैं लेटूं और निश्चिन्तता से सो सकूं। आज ही मैं इस सत्य को जान सका हूं कि एक व्यर्थ के विचार को भी चित्त से हटाना कितना कठिन है?

आपभी ऐसे बहुत से विचारों से परिचित होंगे जिनको हटाना संभव नहीं

हुआ होगा। जिनको हटाने में आप समर्थ नहीं हो सके होंगे। तो क्या कारण है कि उन विचारों के मालिक होने का भ्रम हम हमारे भीतर पैदा करें। कौनसी वजह है कि मैं समझूं कि ये विचार मेरे हैं! यदि मैं विचारों का मालिक हूं तो चाहूं तब विचार बंद हो जाने चाहिये और जब चाहूं तब जन्मने चाहिये। और यदि मैं न चाहूं कि विचार चलें तो मेरा मन शांत और पूर्ण मौन हो जाना चाहिये। लेकिन क्या ऐसा होता है?

कोशिश करके देखें कि एक क्षण को भी मौन होना संभव है? एक क्षण भी विचारों की धारा को तोडना आसान नहीं है। एक विचार को भी बाहर फेंक देना आसान नहीं है। सचाई तो यह है कि जिस विचार को भी आप बाहर फेंकना चाहेंगे, उसी विचार से आपकी शत्रुता खडी हो जायेगी। और आप पायेंगे कि वह विचार बलपूर्वक आपके भीतर प्रवेश कर रहा है। और आप पायेंगे कि आप हार गये हैं और वह विचार जीत गया है। जिन विचारों को हम हटाना चाहते हैं वे लौट लौट कर आ जाते हैं और इस बात की घोषणा करते हैं कि आप मालिक नहीं हो। लेकिन जिन्दगी भर इस बात को सुनने पर भी हमको यह भ्रम बना रहता है कि विचारों के हम मालिक हैं।

एक व्यक्ति था नसरुद्दीन। वह एक सांझ अपने घर के बाहर निकल रहा था और तभी उसने देखा कि जलाल नामका एक दूसरे गांव का उसका मित्र द्वार पर आकर खडा था। नसरुद्दीन ने कहा, जलाल! बहुत दिनों के बाद तुम आये हो, तुम ठहरो घर पर, मैं कुछ मित्रों को जरुरी मिलने जा रहा हूं। उनसे मिलकर तीन घंटे बाद मैं वापिस लौटूंगा, तब तुमसे मिल सकूंगा। या तुम्हारी मर्जी हो तो तुम भी मेरे साथ चले चलो तो मित्रों से मिलना हो जायेगा और रास्ते में तुमसे बातचीत भी हो सकेगी। जलाल ने कहा कि मेरे कपडे धूल भरे हो गये हैं फिर रास्ते भर पसीने से मैं डूब गया हूं। इन कपडों को पहनकर किसी के घर जाना उचित न होगा। अगर तुम दूसरे कपडे जो दे सको तो मैं उन्हें पहन लूं और तुम्हारे साथ चलूं। नसरुद्दीन ने अपने पास जो सबसे अच्छा कोट था, अच्छे कपडे थे वो मित्र को पहना दिये और उनको पहनाकर अपने गांव में जहां मिलने जाना था, वहां गया।

वह पहले घर में पहुंचा। वहां जाकर उस भवन के मालिक को उसने कहा, यह हैं मेरे मित्र और मैं आपसे इनका परिचय करा दूं। इनका नाम है जलाल, मेरे बहुत पुराने और घनिष्ट मित्र हैं। और ये जो कोट और कपडे पहने हुये हैं, ये मेरे हैं। जलाल को बहुत परेशानी हुई होगी। बाहर निकलकर

उसने कहा : तुम आदमी कैसे हो ? इस बात को कहने की क्या जरुरत थी कि कपडे किसके हैं ? इतना ही काफी था कि तुम मेरे बाबत बता देते । मेरे कपडों के संबंध में बताने की कोई जरुरत नहीं थी । और अब दूसरे घर में ख्याल रखना, मेरे कपडों के बाबत कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है । नसरुद्दीन दूसरे मकान में पहुंचा । उसने जाकर कहा, ये हैं मेरे मित्र : जलाल, इनसे मिलिये । रही कपडों की बात, सो कपडे उनके ही हैं, मेरे नहीं । जलाल तो बहुत परेशान हो गया । बाहर निकलकर उसने कहा, तुम पागल तो नहीं हो ? इस बात को बताने की क्या जरुरत थी कि कपडे मेरे हैं ! नसरुद्दीन ने कहा, मैंने तो बहुत रोकने की कोशिश की लेकिन यह विचार एकदम से मेरे भीतर घूमने लगा कि मैंने पहली बार तो गलती कर दी है यह कहकर कि कपडे मेरे हैं, तो भूल सुधारकर कह दूं कि ये कपडे इन्हीं के हैं । जलाल ने कहा कि देखो, बस अगले घर में इसकी कोई चर्चा उठाने की जरुरत नहीं । बिल्कुल भी कोई बात उठाना उचित नहीं है । न तुम्हारे न मेरे । इनकी बात को ही मत उठाना । वे तीसरे घर में गये । नसरुद्दीन ने कहा, ये हैं मेरे पुराने मित्र जलाल, रही कपडों की बात सो उसका उठाना बिल्कुल ही उचित नहीं ह कि किसके हैं ? बाहर निकलकर जलाल ने कहा : अब मुझे तुमसे कुछ भी नहीं कहना है, लेकिन तुम आदमी कैसे हो ! कपडों की बात क्यों उठाई ? उसने कहा : मैंने तो बहुत अपने आपको रोका लेकिन कठिनाई यह हो गई कि यह रोकने की कोशिश से ही सारी मुसीबत हो गई । रोकते रोकते यह बात मेरे मुंह से निकल गई कि कपडों की बात करना उचित नहीं है कि किसी के भी हों, और इसका एक ही कारण दिखाई पडता है और वह यह कि मैं इस बात को रोकने की कोशिश कर रहा था । जिस विचार को आप रोकने की कोशिश करेंगे, आप पायेंगे कि वह बडी ताकत से उठना शुरु हो गया है । देखें, और करें और पता चल जायेगा ।

जिन विचारों को हम निषेध करते हैं, वे विचार बडा आकर्षण ले लेते हैं और उसमें बडे प्राण आ जाते हैं और वे बडे बलपूर्वक हमारे भीतर उठने शुरु हो जाते हैं । लेकिन एक बात इस घटना से हमें ख्याल में आनी चाहिय वह यह है कि हम विचारों के मालिक नहीं हैं । लेकिन यही बात हमारे ख्याल में नहीं आती है । अगर हम उनके मालिक होते तो कहते रुक जाओ, तो विचार रुक जाते और हम कहते चलो, तो विचार चलने लगते । लेकिन हम सभी को यह ख्याल है कि मैं विचारक हूं । मैं सोचता हूं । हममें से कोई भी सोचता नहीं

है। क्योंकि जो सोचेगा, उसके जीवन में एक क्रांति घटित हो जाती है। जो सोचेगा उसका जीवन बदल जायेगा। जो विचार करने में समर्थ होगा वह स्वतंत्र हो जायेगा क्योंकि स्वतंत्रता और विचार करने की सामर्थ्य एक ही चीज के दो नाम हैं। यह भ्रम छोड दें कि आप विचार करते हैं। क्योंकि विचार अगर आप करते हों तो आपके जीवन में दुख और चिन्ता और तनाव खोजने से भी नहीं मिल सकते थे।

कौन चाहता है कि वह दुखी हो, लेकिन वे विचार जो दुख देते हैं उनपर हमारी कोई मालिकियत नहीं है। इसलिये हम उन्हें दूर करने में समर्थ नहीं हो पाते। कौन चाहता है कि वह चिन्तित हो लेकिन चिन्तायें हमे घेर लेती हैं और हम उन्हें दूर करने में असमर्थ हैं। कौन चाहता है तनाव से भरा रहे, अशांत रहे, पीडित रहे? कोई भी यह नहीं चाहता है। अगर हम मालिक होते इन विचारों के तो हम इन सारी बातों को कभी का बिदा कर देते। परंतु हम मालिक नहीं हैं। और भ्रम हमें यह है कि हम मालिक हैं। यह भ्रांति ही हमारे जीवन को नीचे जमीन से बांध रखती है और ऊपर उठने नहीं देती। यह भ्रांति बिल्कुल खोटी, बिल्कुल झूठी है। इसमें रत्ती भर भी सत्य नहीं है।

विचारक आप नहीं हैं और न ही आप कर्त्ता हैं। लेकिन हमें यह ख्याल होता है कि मैं यह कर रहा हूं, वह कर रहा हूं। हमें न मालूम कितनी कितनी बातों का भ्रम है। हमारी जिंदगी में जिन चीजों से हमारे करने का कोई भी संबंध नहीं है उनको भी हम करने का कहते हैं।

मैं किसी से कहता हूं कि तुम्हें प्रेम करता हूं। क्या कभी कोई आदमी किसी को प्रेम कर सकता है? क्या यह आपके वश में है कि किसी को प्रेम करें? और आपको कहा जाय कि फलां व्यक्ति को प्रेम करो तो आपको पता चलेगा कि आपके वश में नहीं है कि आप प्रेम कर सकें। आप मुश्किल में पड जायेंगे अगर आपको किसी से प्रेम करने का आदेश दे दिया जाय। आप अपनी सारी ताकत लगाकर हार जायेंगे। और अंत में आप पावेंगे कि जितनी आप कोशिश करते हैं प्रेम के करने की, उतना ही प्रेम दूर होता चला जाता है। आपको पता चलेगा, आपके हाथों में प्रेम बंध नहीं पाता है। आप प्रेम नहीं कर सकते हैं। वह आपका कर्म नहीं है। आप उसके कर्त्ता नहीं हैं। अगर आपसे कहा जाये किसी पर क्रोध करें। तो क्या आप कोशिश करके क्रोध कर सकते हैं। अगर आप कोशिश करके क्रोध नहीं कर सकते हैं तो फिर आपको यह

भ्रम ही होगा कि मैं क्रोध करता हूं। अगर आपको मैं कहूं कि यह व्यक्ति जो सामने खडा है उस पर क्रोध करिये तो आप सारी कोशिश करके, हाथ पैर पटककर हार जायेंगे। आंखों को कितना ही बडा करिये, हाथ पैर कितने ही जोर से पटकिये, मुटिठयां बांधिये लेकिन आप भीतर पायेंगे क्रोध का कोई पता नहीं है। आप मालिक नहीं हैं, न क्रोध के, न प्रेम के, न घृणा के। सारी घटनायें घटती हैं जैसे आकाश से पानी गिरता है, और हवायें बहती हैं उसी तरह। लेकिन हम इन सबके करनेवाले बन जाते हैं। और कहने लगते हैं कि मैं कर्त्ता हूं। और जब हमें यह भ्रम पैदा हो जाता है कि हम इनके करनेवाले हैं तब एक मुसीबत खडी हो जाती है। क्योंकि झूठे भ्रम बंधन का कारण हो जाते हैं। और झूठे भ्रम बडी मुसीबत बन जाते हैं। क्योंकि उनके कारण जीवन का यथार्थ हमें दिखाई ही नहीं पडता है।

अगर आपको यह ख्याल पैदा हो जाये कि मैं क्रोध करता हूं तो थोडे बहुत दिनों में आपको यह भी ख्याल पैदा होना शुरू हो जायेगा कि मैं चाहूं तो क्रोध पर विजय भी पा लूं। तो आप कोशिश में लग जायेंगे क्रोध को दबाने की। क्रोध को मिटाने की, क्रोध को हटाने की। जबकि बुनियादी रुप से आपने कभी क्रोध किया ही नहीं था। आप कभी मालिक ही नहीं थे क्रोध को करने के तो आप क्रोध को हटाने के मालिक कैसे हो सकते हैं? अगर आप क्रोध करनेवाले होते तो आप क्रोध को हटा भी सकते। अगर आप प्रेम करने वाले होते तो आप प्रेम को हटा भी देते। लेकिन न तो आप क्रोध करनेवाले थे और न प्रेम करनेवाले। यह भ्रम था, इसलिये इनको हटाने की बात भी व्यर्थ है। इनको आप हटा नहीं सकते। यह कहना साधारणतः अज्ञान है कि मैं कर रहा हूं। मनुष्य एक यंत्र है। उससे कुछ होता है, लेकिन वह करता नहीं है। अचेतन प्रकृति यांत्रिक रुप से कार्य करती है और हम व्यर्थ ही कर्त्ता बन जाते हैं। कर्त्ता बनना इतना आसान नहीं है।

एक लडका जवान हो जाता है। और जवान होते ही उसके भीतर सेक्स का, काम का जन्म होता है लेकिन सोचता तो वह यही है कि जिस लडकी को वह प्रेम कर रहा है, वह प्रेम कर रहा है। ख्याल उसको यही होता है कि यह मैं कर रहा हूं लेकिन बडी अचेतन शक्तियां हमारे भीतर काम करती हैं। वे हमें धकेलती हैं। जिस दिशा में धक्का देती हैं, उधर हम चले जाते हैं। और हम सोचते हैं कि हम कर रहे हैं।

स्वास आती है और जाती है। लेकिन हम सोचते हैं कि मैं स्वास ले

रहा हूं। अगर मैं स्वास ले रहा हूं तो मौत असंभव हो जायेगी। क्योंकि मैं स्वास लेता ही चला जाऊंगा और मौत सामने आकर खडी रहे, खडी रहे लेकिन मैं स्वास लेना बंद नहीं करुंगा। उससे क्या होगा ? मौत को लौट जाना पडगा। लेकिन मौत आज तक नहीं लौटी। क्योंकि मौत जब आती है तब हमें पता चलता है कि स्वास हम ले नहीं रहे थे, स्वास आ रही थी, जा रही थी और यह हमारा भ्रम था कि हम ले रहे हैं। लेकिन यह भ्रम तभी टूटता है जब स्वास आनी बंद हो जाती है। स्वास के टूटने के साथ ही यह टूटता है। जीवन भर हमें यही ख्याल रहता है कि मैं स्वास ले रहा हूं। यह खून जो 'आपकी नसों में बह रहा है, वह आप बहा रहे हैं ? यह हृदय जो आपका धडक रहा है, आप धडका रहे हैं ? यह नाडी में जो गति है, आप कर रहे हैं ? नहीं, सब यंत्र की भांति हो रहा है। जिस पर हमारी कोई मालिकयत नहीं है। यह हमारी स्थिति है। न तो विचार हमारे हैं, न जीवन, न स्वास, न कर्म। लेकिन हम सभी को यह भ्रम है कि ये हमारे हैं। और इस ख्याल से बंधकर बडी कठिनाई हो जाती है क्योंकि यह ख्याल एकदम झूठा और मिथ्या है। लेकिन क्या मैं यह कहना चाहता हूं कि इसमें आपका कोई भी वश नहीं है। क्या मैं यह कहना चाहता हूं तब आप हाथ पर हाथ रखकर बैठ जायें और कुछ न करें। क्या मैं यह कहना चाहता हूं कि आप निराश हो जायें। नहीं, बल्कि मैं यह कहना चाहता हूं कि यदि आपको सारी बातें दिखाई पडनी शुरु हो जायें, अगर सारी स्थिति की समझ (Understanding) पैदा हो जाये. . . . इस बात का होश आपमें पैदा हो जाये कि मनुष्य कैसा यांत्रिक है तो आपके भीतर उस किरण का जन्म हो जायेगा, जो विचार भी कर सकती है और कर्म भी कर सकती है। लेकिन इस बोध के द्वारा ही उस किरण का जन्म हो सकता है, जो आपको सचेतन जीवन दे सकती है। यांत्रिक जीवन से ऊपर उठा सकती है।

सबसे पहले इस यांत्रिक स्थिति के प्रति जागरुक होना होगा। इस यांत्रिक स्थिति को पूरी तरह समझ लेना होगा, पहचान लेना होगा। इसका पूरा निरीक्षण (Observation) जरुरी है। इसका पूरा परीक्षण आवश्यक है। हमारे जीवन में निरीक्षण बिल्कुल भी नहीं है। हम शायद कभी आंख खोलकर देखते ही नहीं हैं कि जीवन में क्या हो रहा है और यह जीवन क्या है ? शायद हम पुरानी कथाओं को, पुरानी धारणाओं को और पुराने चलते हुये अंधविश्वासों को पकड लेते हैं और खुद के जीवन का कोई निरीक्षण नहीं करते हैं।

बचपन से हमें कह दिया जाता है कि देखो क्रोध मत करो। तो बच्चा

शायद सोच लेता है कि मैं क्रोध कर रहा हूं, इसलिये मां बाप कहते हैं कि क्रोध मत करो। ऐसे उसे क्रोध करने का भ्रम पैदा हो जाता है। बचपन में हमें सिखाया जाता है, अच्छे विचार करो, बुरे विचार मत करो। छोटे छोटे बच्चों को यह ख्याल पैदा हो जाता है कि इन विचारों के हम मालिक हैं। अच्छा विचार करना या बुरा विचार करना मेरी ताकत, मेरे वश में है। और फिर इन्हीं बचपन में पाली हुई अंधधारणाओं को हम जीवन भर ढोते हैं। लेकिन मैं आपसे यह निवेदन करूं कि साधारणतः जब तक मनुष्य की आत्मा सचेतन न हो, जब तक मनुष्य का बोध जागरुक न हो तब तक न तो कर्म उसके होते हैं और न विचार उसके होते हैं। जो आदमी सोया है, उस आदमी की कोई ताकत नहीं, सोये हुये आदमी का कोई वश नहीं है। उसकी कोई शक्ति नहीं है। बिल्कुल अशक्त, बिल्कुल नपुंसक। उसके भीतर कोई सत्व नहीं। सोया हुआ आदमी जैसे अपने मन के सपने नहीं देख सकता है, जो भी सपने आते हैं वही उसे देखने पडते हैं। ऐसी ही स्थिति साधारणतः हम सबकी है। जागे हुये भी यही स्थिति है। सोते तो हम सोते ही हैं। जागे हुये भी सोते हैं। क्या कभी आपने सोचा है कि मैं अपने मन के सपने देख सकता हूं? क्या कभी आपने यह कोशिश की कि अपने मन के सपने देखूं? क्या कभी आपने जो सपने देखने चाहे वही देखे? नहीं, सपने आते हैं और जो आते हैं वही हमें देखने पडते हैं, क्योंकि सोया हुआ आदमी कुछ भी नहीं कर सकता है।

जैसे सोया हुआ आदमी सपने देखने में समर्थ नहीं है वैसे ही साधारणतः हम भी जीवन में सोये हुये लोग हैं, जिनका निरीक्षण जागा हुआ नहीं है, जिनका बोध जागा हुआ नहीं है। हम भी जीवन में कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। और यह सबसे बडी भ्रांति है कि हम सोचते हैं कि हम करने में समर्थ हैं। और इस भ्रांति के कारण हम सारे जीवन भर एक ऐसी दिवाल से सिर टकराते रहते हैं जिसका परिणाम सिवाय आत्मघात के और कुछ भी नहीं हो सकता है। क्या हमारा जीवन आत्मघात की लम्बी और धीमी प्रक्रिया नहीं है?

इसलिये सबसे पहली और बुनियादी बात जाननी जरुरी है कि मनुष्य एक यंत्र है। जैसा कि मनुष्य है वह एक यंत्र है। और उसकी कोई सामर्थ्य नहीं है कि विचार करे या न करे। लेकिन यदि यह बोध हमारे भीतर पैदा हो जाये तो यह बोध ही हमें यंत्र के ऊपर उठने के लिये मार्ग बन जाता है। मनुष्य यंत्र है लेकिन वह यंत्र ही होने को बाध्य नहीं है। चाहे तो वह एक सचेतन आत्मा भी हो सकता है। लेकिन इस होने की यात्रा में पहला कदम

यह होगा कि वह अपने आपकी यांत्रिकता को भलीभांति जानले। आत्मज्ञान की ओर यह पहली सीढी है।

क्या आपको कभी यह ध्यान आया है कि नींद में जब रात का सपना चलता है, अगर आपको यह पता चल जाये कि यह सपना है तो इसका क्या मतलब होगा? इसका मतलब होगा कि नींद टूट गई है। अगर आपको यह पता चल जाये कि मैं जो देख रहा हूं वह सपना है, तो इसका मतलब यह होगा कि नींद टूट गई है। अगर आपको यह पता चल जाये कि जिस जिन्दगी को मैं जी रहा हूं वह एक यांत्रिक जिन्दगी है, तो आप समझ लेना कि आपकी जिन्दगी में इस यांत्रिकता की समाप्ति का क्षण आ गया है। आपके भीतर एक नई किरण का जन्म हो गया है। नींद में पता नहीं चलता कि मैं सपना देख रहा हूं। यही पता चलता है कि जो देख रहा हूं वह सत्य है। यही नींद का सबूत है। और जिस क्षण यह पता चल जाये कि जो मैं देख रहा हूं वह सपना है, झूठा है, तब आप जान लेना कि आपके भीतर जागरण शुरु हो गया, आपने जागना शुरु कर दिया है।

देखें। अपने जीवन को ध्यान से देखें। क्या वहां सब यंत्रवत् नहीं प्रतीत होता है? क्या हमारा जीवन एक यांत्रिक गति नहीं है, जिसमें हम बाहर के धक्कों पर जीते हैं। जिसमें हम बाहर के द्वारा संचालित होते हैं। जिसमें बाहर से कोई हमारे धागे खींचता है और हमारे प्राण उसी भांति गति करने लगते हैं। लेकिन ऐसी जिन्दगी परतंत्र जिन्दगी है। स्वतंत्र जीवन तो वह है जो भीतर से जिया जाता है, बाहर से नहीं।

एक फकीर था। वह एक गांव में ठहरा हुआ था। एक आदमी ने आकर उससे ऐसे अपशब्द कहे जो प्राणों में कांटों की भांति चुभ जाये। जितनी तीखी गालियां हो सकती हैं उस भाषा में, उसने उनका उपयोग किया। उस फकीर ने बैठके सारी बातें सुनी। सुनने के बाद उसने कहा: मित्र, एक दफा सारी बातें फिरसे दोहरा दो, हो सकता है कोई बात मैं ठीक से न सुन पाया होऊं। उस व्यक्ति ने साश्चर्य कहा: ये बातें भी कोई फिर से दोहरा के सुने जाने की हैं? वह फकीर बोला: बहुमूल्य बातें तुम लाये हो और उनको कहने में बडी मेहनत कर रहे हो। तुम्हारी आंखों में आग जल रही है, तुम्हारे हृदय में भी आग होगी और तुम बडा कष्ट उठा रहे हो और मैं उनको शांति से भी न सुन सकूं, यह तो बडी अशिष्टता होगी। लेकिन हो सकता है, तुम इतने क्रोध में हो और इतनी जल्दी में कि मैं कुछ बातें न सुन पाया होऊं तो फिर तुम उन्हें

एक दफा दोहरा दो, ताकि मैं उन्हें ठीक से सुन लूं। रही उत्तर की बात तो उत्तर मैं तुम्हें कल दूंगा। २४ घंटे सोचने का मुझे मौका दो। और अगर मैं न आऊं तो तुम समझ लेना, तुमने जो बातें कही थीं वे सही थीं। अगर कोई बात गलत होगी तो मैं आकर तुम्हें निवेदन करूंगा। वैसे अभी तो मैं केवल धन्यवाद ही दे सकता हूं और अनुग्रह ही जता सकता हूं। मेरे लिये तुमने इतना श्रम उठाया है, उसके लिये मैं जितना भी स्वयं को ऋणि मानूं उतना ही कम है!

लेकिन क्रोध की बातों के लिये कोई कभी एक क्षण के लिये रुककर सोचता है? कोई गाली देता है और हमारे भीतर आग लग जाती है। क्या उसके गाली देने में और हमारे भीतर आग में एक क्षण का भी अन्तराल (Interval) होता है? नहीं, उसने वहां गाली दी और इधर हमारे भीतर आग शुरु हो गई वैसे ही जैसे कि किसी ने आग लगा दी हो और लकडी जलना शुरु हो जाये। क्या क्षण भर का भी मौका होता है सोच विचार का? नहीं होता और इसीलिये तो हमारा सारा जीवन यांत्रिक है। उसमें विचार का, जागरण का, होश का एक क्षण भी नहीं है। चीजें बाहर घटती हैं और हमारे भीतर काम शुरु हो जाता है। लेकिन उस फकीर ने कहा कि मैं कल आकर उत्तर दूंगा। वह कल गया लेकिन इस बीच २४ घंटे में वह आदमी बदल गया था, जिसने गालियां दी थीं। क्योंकि जिसने हमें गालियां दी हैं अगर हम गालियों का उत्तर न दें तो उस आदमी के क्रोध के जीने में और आगे जीते रहने में कठिनाई हो जाती है। हम उसके सहारे नहीं रह जाते। उसकी आग और आगे जले इसकी गुंजाइश नहीं रह जाती है।

वह फकीर जब दूसरे दिन उसके पास गया तब वह आदमी रोने लगा और उसने कहा मैंने बहुत गलत बातें कहीं। फकीर हंसने लगा और बोला: तुम भूल में हो। मैंने खोजा तो पाया कि तुमने जो कहा ठीक ही कहा। काश! मैं कल ही तुम्हें उत्तर देता तो भूल हो जाती। उस समय मैं चुप रह सका और स्वयं को सोचने और देखने का समय दे सका तो सारी स्थिति ही बदल गई। आह! तुमसा मेरा मित्र और कौन है? अपनी कृपा आगे भी जारी रखना और जबभी मुझमें कोई भूल दिखाई पडे तो चेता देना।

यह फकीर सोच रहा है। लेकिन हम? हम भी सोच रहे हैं क्या? हम जरा भी नहीं सोच रहे हैं। और हमारा अंधापन ऐसा है कि हमें यह भी दिखाई नहीं पडता। इस अंधे क्रम में, इस अंधे रास्ते पर यह भी हो सकता है कि मैं आपको गाली दं, लेकिन आप मुझे उत्तर न दे सकें तो आप किसी

और को उत्तर दें और आपको यह ख्याल भी न आये कि आप क्या कर रहे हैं ?

एक आदमी अगर दफ्तर में काम करता है और उसका मालिक उसको गाली दे दे, अपमान कर दे तो मालिक के क्रोध का उत्तर कैसे दिया जा सकता है, वह क्रोध को पी जायेगा। क्रोध तो उठ आयेगा भीतर क्योंकि क्रोध न मालिक को देखता है, न किसी को, क्रोध तो भीतर जलने लगेगा। लेकिन साहस, सुरक्षा और बहुत से ख्याल उसे भीतर दबा देंगे। वह क्रोध भीतर उबलता रहेगा और वह आदमी जल जायेगा। मालिक तो ताकतवर है और जैसे नदी ऊपर की तरफ नहीं चल सकती, नीचे की तरफ बहती है वैसे ही क्रोध भी नीचे की तरफ बहेगा। वह घर जायेगा कमजोर पत्नी मिल जायेगी घर पर, और कोई भी बहाना निकालेगा और कमजोर पत्नी पर टूट पडेगा। और उसे यह ख्याल भी न आयेगा कि यह क्रोध अंधा है और पत्नी से इसका कोई संबंध नहीं है। वह पत्नी पर टूट पडेगा। वह पत्नी को मारे या गालियां दे या अपमान करे तो पत्नी पति से क्या कह सकती है ? उसे तो हर तरह से सिखाया गया है कि पति है परमात्मा। इसलिये वह जो कहे सो सुन लेना और वह स्त्री उस क्रोध को पी लेगी। लेकिन क्रोध भीतर जग जायेगा, और जैसे नदी नीचे की तरफ बहती है, उसका बच्चा जब स्कूल से लौट आयेगा तब कोई भी बहाना मिल जायेगा और बच्चे को पीटना शुरु कर देगी। कमजोर बच्चे पर पत्नी का क्रोध निकलना शुरु हो जायेगा। और बच्चा क्या कर सकता है ? मां को कुछ भी नहीं कह सकता। हो सकता है वह अपनी गुडिया की टांग तोड डाले या बस्ते को पटक दे या स्लेट फोड दे। ऐसा क्रोध अंधे की तरह बहता रहेगा। ऐसे हमारे सारे जीवन के विचार और भावनायें और कर्म एक अंधे चक्कर में घूम रहे हैं। इसे सुनकर हमें हंसी आती है लेकिन आपने एक कहानी जरुर सुनी होगी और आप उसपर हंसे भी होंगे और आपको कभी ख्याल भी न आया होगा कि वह कहानी आपके बाबत ही है।

एक सुबह एक राजा का दरबार भरा था। और एक आदमी आया। उसकी आंखसे खून बह रहा था। उसकी एक आंख फूट गई थी। उस आदमी ने आकर राजा के दरबार में कहा कि : महाराज, मुझ पर बडा अन्याय हो गया है। रात में मैं एक घर में चोरी करने घुसा। लेकिन अंधेरा होने की वजह से मैं भूल से दूसरे घर में चला गया। वह दूसरा घर जुलाहे का था। और जुलाहे ने अपने कपास साफ करने के यंत्र को खूंटी पर टांग रखा था। वह मेरी आंखमें लग गया और मेरी आंख फूट गई। अब मैं बडी मुश्किल में पड गया हूं।

मैं चोरी कैसे करुंगा ? जुलाहे ने मेरी आंख फोड दी है। आप जुलाहे को बुलाइये और उसे आंख फोडने के बदले में आंख फोडे जाने की सजा दीजिये ताकि मुझपर, गरीब पर अन्याय न हो। आपकी भी बदनामी न हो कि आपके राज्य में ऐसा अन्याय हो रहा है। राजा ने कहा, फौरन जुलाहे को पकडकर लाया जाय, यह तो बहुत बुरी बात है। यह बिचारा चोर क्या करेगा, उसकी एक आंख फूट गई है। एक तो काम इसका रात का और अब एक आंख फूट जाने से क्या होगा ? फौरन उस जुलाहे को दो सिपाही पकडकर ले आये। उस जुलाहे ने कहा, मेरे मालिक ! कसूर तो मुझसे हो गया कि मैंने खिडकी पर अपना यंत्र टांग दिया लेकिन आप देखिये कि मुझे दोनों आंखों की जरुरत पडती है। कपडा बुनते वक्त मुझे दोनों तरफ दायें बायें देखना पडता है। अगर मेरी एक आंख फोड दी गई तो फिर कपडा बुनना मुश्किल हो जायेगा। ज्यादा अच्छा हो कि मेरे पडौस में एक चमार रहता है और उसका काम ऐसा है जूता सीने का कि एक आंख से भी चल सकता है। दो आंख की उसे कोई खास जरुरत भी नहीं। उसको बुलवाकर उसकी एक आंख फोड दें तो न्याय भी पूरा हो जायगा और मैं गरीब भी बच जाऊंगा। राजा ने कहा : यह बात बिल्कुल ठीक है। न्याय तो पूरा होना ही चाहिये और इस भांति भी कि किसी को असुविधा न हो। नीति का यही तो नियम है कि सांप भी मरे और लाठी भी न टूटे। चमार को बुलवा लो और उसकी आंख फोड दो ! चमार को बुलवा लिया गया और उसकी आंख फौड दी गई और न्याय संतुष्ट हो गया। यह कहानी आपने सुनी होगी। नहीं सुनी होगी तो मैं आपसे कहता हूं। यह कहानी आपको एकदम मूर्खतापूर्ण, बिल्कुल अर्थहीन (Absurd) मालूम होगी। वह राजा पागल था क्या ? इस तरह कहीं न्याय होता है, लेकिन मैं आपसे कहता हूं कि वह पागल राजा हम सबके भीतर बैठा है। और हम सब यही कर रहे हैं। रोज रोज यही कर रहे हैं।

जो क्रोध किसी पर उठता है वह किसी और पर निकल रहा है और न्याय पूरा हो रहा है। जो घृणा किसी पर पैदा होती है वह कहीं और बही जा रही है। और हमारी जिन्दगी इसी पागल बादशाह की तरह न्याय से भरी है। और यह न्याय इसीलिये हुआ जा रहा है कि हम सोये हुये हैं और इसके प्रति जागे हुये नहीं हैं कि क्या हो रहा है ? ये विचार क्या कर रहे हैं, ये कर्म क्या कर रहे हैं ? यह हमसे क्या हुआ जा रहा है ? इसका हमें कोई बोध नहीं है, कोई होश नहीं है, कोई जागरुकता नहीं है।

यह जीवन की स्थिति है। यांत्रिकता जीवन की स्थिति है। और इस यांत्रिकता में चाहे कोई मंदिर जाता हो और चाहे कोई मस्जिद जाता हो, चाहे कोई कुरान पढता हो या चाहे कोई गीता पढता हो, कुछ भी न होगा। क्योंकि जो आदमी अभी अपने विचार और कर्म के ऊपर सचेत नहीं है, उसका गीता या कुरान का पढना खतरनाक ही सिद्ध होगा। आज नहीं कल वह गीता और कुरान के नाम से भी लडेगा और हत्या करेगा। उसका हिन्दू होना खतरनाक है, उसका मुसलमान होना खतरनाक है। क्योंकि जो आदमी अंधा है उसका कुछ भी होना खतरनाक है। और वह जो भी करेगा उससे जीवन को दुख पहुंचेगा, पीडा पहुंचेगी, अशांति बढेगी, युद्ध होगा, हिन्सा होगी, यह सारी दुनिया में हो रहा है। यह जो सारी दुनिया में हो रहा है : यह हिन्सा, युद्ध और परेशानी, इसके लिये कोई राजनैतिक जिम्मेवार है, ऐसा मत सोचना और ऐसा भी मत सोचना कि कम्युनिस्ट उसका जिम्मेवार है और ऐसा भी मत सोचना कि अमरीका जिम्मेवार है। क्योंकि जब अमरीका नहीं था, तब भी युद्ध था इस जमीन पर। और जब कम्युनिस्ट नहीं थे, तब भी युद्ध हो रहे थे।

पांच हजार साल में १४ हजार ६ सौ युद्ध हुये हैं। कौन यह युद्ध कर रहा है ? यह सोया हुआ आदमी ही युद्ध की जड में है। यह जो भी करेगा उससे हिन्सा पैदा होगी। युद्ध पैदा होगा। और यह सोया हुआ आदमी जो भी बनायेगा उससे विनाश होगा। इधर वर्षों की मेहनत के बाद हमने अणु शक्ति की खोज की है। और उस खोज का परिणाम यह हुआ कि हम तैयारी कर रहे हैं कि किस भांति हम सारे मनुष्य को समाप्त कर दें। किस भांति हम सारी दुनिया को नष्ट कर दें इसकी तैयारी कर रहे हैं। हमने तैयारी पूरी करली है और किसी भी दिन आज या कल, किसी भी दिन सुबह उठकर आप पा सकते हैं कि दुनिया अपनी मौत के द्वार पर आ खडी हो गई है। और हम अपनी हत्या करने को राजी हो गये हैं। सोया हुआ आदमी और उसके हाथ में इतनी बडी ताकत, बेहोश आदमी, यांत्रिक आदमी और उसके हाथ में इतनी बडी ताकत बडी खतरनाक है। और ताकत कितनी है शायद उसका आपको अनुमान भी न हो। इतनी बडी ताकत आजतक आदमी के हाथों में इस जमीन पर नहीं थी। यह ताकत होती तो शायद हम बहुत पहले ही दुनिया को खतम कर लिये होते। लेकिन अब हमारे पास ताकत आ गई है। हजारों अणु और उद्जन बम हमने तैयार करके संग्रहीत कर रक्खे हैं। ये इतने ज्यादा हैं कि मारने को आदमी भी नहीं हैं। हमारे पास आदमी हैं कुल साढे तीन अरब। साढे तीन अरब बहुत

थोडे लोग हैं। २५ अरब आदमी मारे जा सकें इतने उद्जन बम हमने तैयार कर लिये हैं। कई कारणों से ऐसा किया है। हो सकता है कि एक दफा मारने से आदमी न मरे तो दुबारा मारना पडे, तीसरी बार मारना पडे। हमने सात सात बार एक एक आदमी को मारने का इंतजाम कर लिया है, ताकि कोई भूलचूक न हो। जमीन बहुत छोटी है, इस तरह की सात जमीनें नष्ट कर सकें इतना हमने इंतजाम कर रक्खा है।

शायद आपको ख्याल भी न हो कि मनुष्य ने यदि अपनी ही हत्या की योजना की होती तो भी ठीक थी, उसका उसे हक था। आदमी अगर चाहे हम नहीं रहना चाहते तो उसे रोकने के लिये कोई भी क्या कर सकता है? उसकी अपनी मौज। लेकिन आदमी ने अपने साथ सारे कीडे मकौडे, पशु पक्षियों, पौधों सबके जीवन की समाप्ति का इंतजाम कर रक्खा है। आदमी के साथ सारा जीवन समाप्त होगा। सारा जीवन, वे छोटे कीटाणु भी समाप्त हो जायेंगे जिनकी उम्र लाखों वर्षों की है। जिनको मारना बहुत कठिन होता है, वे भी मर जायेंगे। क्योंकि आदमी ने जो ताकत इकट्ठी की है, उससे इतनी गरमी पैदा होगी जिससे किसी तरह का जीवन संभव नहीं रह जायेगा। एक उद्जन बम के विस्फोट से कितनी गरमी पैदा होती है आपको पता है? जमीन से सूरज कोई ९ करोड मील दूर है। लेकिन सूरज इतने दूर से हमको तपा देता है और परेशान करता है। और गरमी के दिनों में जरा सा करीब सरक आता है और हमारी मुसीबत हो जाती है। उद्जन बम से जितनी गरमी सूरज पर है उतनी ही हम जमीन पर पैदा करने में समर्थ हो गये हैं... उतनी ही गर्मी! नौ करोड मील दूर का सूरज हमें परेशान करता हैं तो सूरज आपके पडौस में आजायेगा तो क्या होगा? शायद फिर भी आपको ख्याल पैदा न हो कि गरमी कितनी है? एक सौ डिग्री हम गरम करते हैं तो पानी भाप बनकर उडने लगता है। सौ डिग्री कोई गरमी नहीं है। लेकिन उबलते हुये पानी में आपको डाल दिया जाये तो क्या होगा? अगर हम पंद्रह सौ डिग्री तक गरमी पैदा करें तो लोहा पिघलकर पानी हो जायेगा। लेकिन पंद्रह सौ डिग्री भी कोई गर्मी नहीं है। अगर हम पच्चीस सौ डिग्री गर्मी पैदा करें तो लोहा भी भाप बनकर उडने लगता है। लेकिन पच्चीस सौ डिग्री भी कोई गर्मी नहीं है।

एक उद्जन बम के विस्फोट से जो गर्मी पैदा होती है वह होती है १० करोड डिग्री। १० करोड डिग्री गर्मी कोई छोटी मोटी सीमा में पैदा नहीं होती। ४० हजार वर्ग मील में एक उद्जन बम के विस्फोट से १० करोड डिग्री गर्मी

पैदा हो जाती है। उस डिग्री में किसी तरह के जीवन की कोई संभावना नहीं रहती। किसने पैदा किया यह उद्जन बम और किसलिये ? यह पागल दौड किसलिये चल रही है ? पिछले महायुद्ध में हमने ५ करोड लोगों की हत्या की है और अब इंतजाम किया है सबकी हत्या करने का। यह कौन कर रहा है ? यह आदमी कर रहा है, और आदमी कहता है हम विचारवान है ! आदमी पर शक होता है कि कैसा विचारवान है ? यह आदमी कर रहा है और आदमी कहता है कि हम करने में समर्थ हैं ! तो फिर युद्ध रोकने में समर्थ क्यों नहीं हो पाते ? लेकिन हम जानते हैं, हमारे बावजूद युद्ध करीब आ रहा है।

पहला महायुद्ध खतम हुआ तब सारे विचारशील लोगों ने कहा था कि अब हम कभी युद्ध न करेंगे। लेकिन १५ साल भी नहीं बीते थे कि दूसरे युद्ध की हवायें उठनी शुरु हो गई। दूसरा महायुद्ध हुआ। दोनों महायुद्धों में करोडों लोगों की हमने हत्या की। दुनिया के सारे विचारशील लोगों ने कहा: अब हम कभी युद्ध न करेंगे। यह बस अंतिम युद्ध। लेकिन दूसरा महायुद्ध खतम भी न हो पाया था कि हमने तीसरे की तैयारियां शुरू कर दीं। यह आदमी विचारशील है ? यह आदमी करने में समर्थ है? इसके अपने कर्मों पर भी इसका कोई वश है? बिल्कुल नहीं, बिल्कुल नहीं। आदमी बिल्कुल यंत्र की भांति चला जा रहा है। और आगे भी यदि यांत्रिकता की दौड ऐसी ही रही तो यह भी हो सकता है, सारी दुनिया समाप्त हो। हम मनुष्यों के साथ जीवन भी समाप्त हो सकता है।

लेकिन इसे रोका जा सकता है। इसे रोकने के लिये सिवाय् इसके कोई उपाय नहीं है कि मनुष्य यांत्रिकता से मुक्त हो। वह नींद से जागे। उपाय एक ही है और वह यह है कि मनुष्य अपनीं यांत्रिक क्रियाओं में ज्यादा सचेत, ज्यादा बोध पूर्ण (Conscious)ज्यादा होश (Awlareness) से भरा हो। वह ज्यादा बोध पूर्वक जिये। अगर मनुष्य के भीतर बोध पैदा हो जाये तो जीवन के जो भी रोग हैं उनके ठहरने की कोई जगह नहीं रह जायेगी। मनुष्य को बेहोशी में रोगों को ठहरने का स्थान है। अगर आप होश से भर जायें तो आप हिन्दू न रह जायेंगे, न मुसलमान रह जायेंगे। अगर आप होश से भर जायें तो आप हिन्दुस्तानी न रह जायेंगे, न पाकिस्तानी रह जायेंगे। अगर आप होश से भर जायें तो काले गोरे के भेद की पकड नहीं रह जायेगी। अगर आप होश से भर जायें तो जीवन में घृणा और क्रोध की जगह नहीं रह जायेगी। अगर आप होश से भर जायें तो आपके जीवन में एक प्रेम का जन्म होगा। एक परमात्मा का स्मरण होगा। एक धर्म का प्रारंभ होगा। एक प्रकाश पैदा होगा। वह न केवल आपको

बदलेगा वरन् उसकी रोशनी आपके आसपास भी और घरों के अंधेरे को भी तोडने लगेगी। थोडे से लोग भी अगर प्रकाश से भर जायें और होश से भर जायें तो जमीन के भाग्य में एक नया सूर्योदय हो सकता है।

ये थोडी सी बातें मैंने आपसे कहीं, ज्यादा बात नहीं कहीं। मूलतः एक ही बात कही कि मनुष्य यांत्रिक है और सोया हुआ है। और जो मनुष्य सोया हुआ है उसके जीवन में कोई आनन्द नहीं हो सकता है। दुख ही होगा। दुख स्वाभाविक है। उसके जीवन में कोई शांति नहीं हो सकती। उसके जीवन में सत्य नहीं हो सकता है, स्वतंत्रता नहीं हो सकती है।

तो पहली खूंटी जो हम अपने बाबत बांधे हुये हैं वह है कि हम विचार करने में समर्थ हैं, झूठ है यह बात। और दूसरी खूंटी है कि हम कर्म करने में मालिक हैं। यह बात भी झूठी है। ये तो झूठी खूंटियां और रस्सियां हमारे जीवन को घेरे हुये हैं। इनको तोड देना जरूरी है।

ये कैसे टूटेंगी? ये निरीक्षण से और चित्त के प्रति जागृत होने से टूट जाती हैं।

मनुष्य यंत्र है। लेकिन मनुष्य यंत्र ही नहीं है, यंत्र के ऊपर भी उठकर उसके भीतर कोई शक्ति है। मनुष्य जड है अभी, लेकिन उसके भीतर आत्मा सोयी हुई है, वह जाग सकती है। और मनुष्य में अभी कोई विचार नहीं है लेकिन उसके भीतर विचार का जन्म हो सकता है? किस द्वार से और किस मार्ग से? वह हो सकता है स्वयं की समस्त क्रियाओं और विचारों के प्रति जागरुकता से। जो मैंने कहा उसे देखने की कोशिश करना कि मैंने क्या कहा? अपने कर्मों के बाबत्, अपने विचारों के बाबत्। उसे सोचने की कोशिश करना कि मैंने क्या कहा? सोचने के बाद समझने की कोशिश करना कि कहीं यह सत्य तो नहीं है? और यह सत्य दिखाई पड जाय तो समझना आपके जीवन में क्रांति की शुरुआत हो गई। आपका जीवन बदलने के किनारे आ गया है। इस पर थोडा सोचना विचारना, होश से भरने की कोशिश करना, मेरे कर्म, मेरे विचार कहीं यंत्र कीं भांति तो नहीं हो रहे हैं? अगर ये यंत्र की भांति हो रहे हैं तो मुझे स्वयं को मनुष्य कहने का कोई अधिकार नहीं है। मनुष्य तो वही है जिसका मन जागा हुआ है। मनुष्य तो वही है जो सत्य जानने में समर्थ है। मनुष्य तो वही है जो स्वतंत्र है।

—००—

संध्या के तारे :

सांध्यकालीन चर्चाओं से :

संकलन : **श्री. अजित,** एम. ए. एम. काम., एल. एल. बी.

१ : यह मनुष्य क्यों मर रहा है ?

मैं आज तक की सभी संस्कृतियों और सभ्यताओं को अधूरी पाता हूं। मनुष्य अबतक भी ऐसी संस्कृति का निर्माण नहीं कर पाया है जो कि उसके पूरे जीवन को स्पर्श करती हो। मनुष्य इसीलिये अतृप्त, असंतुष्ट और बेचैन है। उसके पूरे प्राण, उसका पूरा व्यक्तित्व तृप्ति पा सके ऐसी कोई जीवन दृष्टि वह विकसित नहीं कर पाया है। उसके व्यक्तित्व का एक अंश तृप्त होता है तो दूसरा भूखा रह जाता है। दूसरे की भूख मिटती है तो पहला उपेक्षित हो जाता है। लेकिन कुल जोड में वह सदा अशांति, बेचैनी और तनाव पाता है। दुर्भाग्य की इस कथा के पीछे कारण क्या है ?

मनुष्य को द्वैत में तोडकर देखना ही वह कारण है।

मनुष्य के शरीर और आत्मा में एक अनिवार्य द्वन्द्व की धारणा ही वह कारण है।

आत्मा और शरीर, चेतना और जडता के बीच शत्रुता मानकर ही हमने अपने हाथों अपना दुर्भाग्य निर्मित कर लिया है।

जीवन को इस भांति द्वन्द्व में और खंड में देखनेवाली दृष्टि ने ही अबतक मनुष्य की संस्कृतियों को जन्म दिया है इसलिये वे संस्कृतियां अपूर्ण, अधूरी और आंशिक रही हैं।

पूर्व और पश्चिम ने ऐसे ही अधूरे प्रयोग किये हैं। अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के नाम पर ऐसी ही आंशिक सभ्यतायें निर्मित हुई हैं।

लेकिन इस सीधे सादे तथ्य को हम अबतक भी नहीं देख पाये हैं कि

मनुष्य न तो अकेला शरीर है और न अकेली आत्मा । वह दोनों है । शायद वह दो ही नहीं है । एक ही है । और उस एक को ही हम दो में बांटकर देख रहे हैं । यह दो में देखना शायद हमारी देखने की असमर्थता ही है ।

मनुष्य मनोभौतिक (Psycho-physical) है । वह एक अपूर्व संतुलन है । वह एक अद्‌भुत संगीत है । और जैसे ही हम इस संगीत को दो में बांटते हैं, वैसे ही उसका सारा व्यक्तित्व बेसुरा हो जाता है । मनुष्य की अखंडता में जो संतुलन और सौन्दर्य है, वह उसे खंड खंड करके देखने पर कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है । खंडित होते ही. . . . . यह एक खंड पर अति बल देते ही मनुष्य एक कुरुपता में परिणत हो जाता है । अध्यात्मवादियों और भौतिकवादियों ने. . . दोनों ने ही मनुष्य को कुरुप किया है क्योंकि दोनों ने ही उसे उसकी समग्रता में नहीं स्वीकारा है । वे दोनों ही उसमें चुनाव करते रहे हैं । उसके पूरेपन से वे दोनों ही भयभीत रहे हैं । अपने वादों और विवादों से उन्हें जितना मोह है उतना मनुष्य से कतई नहीं है । वे मनुष्य को देखकर उसके लिये सिद्धांतों के कपडे नहीं बनवाते हैं वरन् उनकी प्रक्रिया पूर्णतः उल्टी ही है । वे सिद्धांतों के कपडे पहले बना लेते हैं और फिर उनके अनुरुप मनुष्य में हेर फेर करने की पहल करते हैं । वे शब्दों, शास्त्रों और सिद्धातों के वस्त्रों के ऐसे प्रेमी हैं कि उनके लिये मनुष्य को अंगभंग करने में भी नहीं सकुचाते हैं । वस्त्रों में तो किसी भांति की काट छांट की ही नहीं जा सकती है, इसलिये फिर मनुष्य में ही काट छांट करनी पडती है । उनके बनाये हुये वस्त्र यदि ठीक नहीं आते हैं तो इसमें वस्त्रों का क्या कुसूर है. . .. कुसूर है तो आदमी का है ! वह ऐसा क्यों है कि वस्त्रों के अनुरुप नहीं है ? उसे वस्त्रों के अनुरुप होना ही पडेगा, तभी तो वह ठीक मनुष्य हो सकता है ! मनुष्य का यह सुधार चल रहा है... हजारों वर्षों से यह परिष्कार चल रहा है । और जो हुआ है परिणाम, वह प्रत्यक्ष है । मनुष्य और विकृत और अस्वस्थ हो गया है । इस विकृति और अस्वास्थ्य को देखकर सुधारकों के सुधार का जोश और बढ जाता है और वे अपने सेवा कार्य में और भी ज्यादा निर्ममता से संलग्न हो जाते हैं ! सिद्धांतवादियों ने जैसी हिंसा और दुष्टता के प्रमाण दिये हैं, वैसे अन्यत्र पाने असंभव हैं । शायद यह चित्त की हिन्सा की वृत्ति ही हो जो कि कुछ विक्षिप्त व्यक्तियों को सिद्धांतों और वादों की आड में खडा कर देती हो । क्योंकि वहां ऐसी वृत्ति को बिना किसी भय के पूर्ण अभिव्यक्ति दी जा सकती है और साथ ही साथ आदर भी पाया जा सकता है ! मनुष्य के सुधारकों और शास्ताओं से ज्यादा उपद्रवी व्यक्ति और

कोई नहीं हुये हैं। और सबसे बडा उपद्रव जो उन्होंने खडा कर दिया हैं, वह है: मनुष्य में चुनाव का। पूरे मनुष्य की अस्वीकृति का। मनुष्य में द्वन्द्व का। वे शास्ता और सुधारक यदि आत्मवादी हैं तो उन्होंने मनुष्य के शरीर की अस्वीकृति की शिक्षा दी है। उसके प्रति शत्रुता सिखाई है या यदि वे बहुत विनम्र हुये तो उपेक्षा सिखाई है। और यदि वे विचारक भौतिकवादी हुये तो उन्होंने आत्मा के प्रति आंखें बंद कर लेने की वृत्ति को बल दिया है। उन्होंने जीवन को शरीर से बांधने की कोशिश की है और आत्मा की ओर उडान के सारे पंख काट दिये हैं। इन दो प्रकार के गुरुओं के बीच मनुष्य बुरी तरह पिसा है। उसका सारा संताप, चिन्ता और अर्थहीनता इन्हीं दो अतियों के बीच उसके चित्त को खींचे जाने से पैदा हुई है। इन अतियों ने उसके सारे जीवन रस को चूस डाला है।

चिन्ता और संताप के किन्हीं क्षणों में कोई व्यक्ति जागता भी है तो एक अति से दूसरी अति पर चला जाता है। वह कुये से बचता है तो खाई में गिर जाता है। भौतिकवादी अध्यात्मवादी हो जाते हैं और अध्यात्मवादी भौतिकवादी हो जाते हैं। व्यक्ति ही नहीं, पूरी सभ्यतायें और समाज और राष्ट्र भी ऐसी अतियों में डोलते रहते हैं। लेकिन थोडे से व्यक्तियों ने भले उस मध्य बिन्दु को पा लिया हो जहां कि जीवन का संगीत पैदा होता है, अभी तक कोई संस्कृति तो उस संतुलन को नहीं पा सकी है। समाज के तल पर संतुलन अबतक स्वप्न ही है।

एक कहानी मुझे स्मरण आती है। एक बादशाह बीमार पडा था। उसकी बहुत चिकित्सा की गई लेकिन वह स्वस्थ न हो सका। अंततः चिकित्सकों ने जबाब दे दिया : फिर एक फकीर को बुलाया गया। उस फकीर ने कहा : "सम्राट ठीक हो जावेगा। लेकिन उसे किसी समृद्ध और सुखी व्यक्ति के कपडे पहनाने होंगे। यदि तुम ऐसे कपडे पा सके तो संध्या के पूर्व ही तुम पाओगे कि वह ठीक हो गया है।" राजमहल खुशी से भर गया। यह कोई कठिन इलाज नहीं था। उस राजधानी में समृद्ध और सुखी लोगों की क्या कमी थी ? सम्राट के वजीर नगर के सबसे बडे धनपति के पास गये। उस धनपति ने कहा : "सम्राट को बचाने के लिये मैं अपने प्राण दे सकता हूं लेकिन मेरे वस्त्र काम न कर सकेंगे क्योंकि मैं समृद्ध तो हूं लेकिन सुखी नहीं हूं।" फिर तो वजीर एक महल से दूसरे महल गये और यही उत्तर उन्हें मिला। संध्या तक वे बिल्कुल निराश हो गये। इलाज जितना आसान मालुम हुआ था, उतना आसान नहीं था। राजधानी पर जब रात्रि उतरने लगी तब वे वापिस लौटे। वे अत्यंत शर्मिन्दा

थे और सम्राट से लौटकर क्या कहेंगे यह उनकी समझ में नहीं आ रहा था। तभी उन्हें राजमहल के पीछे बहती नदी के दूसरे तट से किसी के बांसुरी बजाने की आवाज सुनाई पडी। उस आवाज में सुख की सुवास थी। उन्होंने सोचा : चलो आखिरी बार इस बांसुरी बजानेवाले से भी पूछ लें। हो सकता है, इस व्यक्ति को सुख उपलब्ध हो गया हो ? वे नदी पार करके उसके पास गये, अंधेरे में कुछ भी दिखाई नहीं पडता था। एक चट्टान पर बैठे उस व्यक्ति से उन्होंने अपनी प्रार्थना दुहराई। वह व्यक्ति बोला : 'मैं सम्राट को बचाने के लिये अपने प्राण दे सकता हूं। और सुख भी मैंने जाना है। लेकिन शायद अंधेरे में आपको दिखाई नहीं पड रहा है कि मैं बिल्कुल नग्न हूं और मेरे पास वस्त्र नहीं हैं ! उस रात वह सम्राट मर गया क्योंकि उस नगर में एक भी पूरा व्यक्ति उपलब्ध नहीं हो सका। यह कहानी आज पूरी मनुष्यता पर दुहरने को है। मनुष्यता भी बचेगी नहीं, यदि हम सुख और समृद्धि के बीच, आत्मा और शरीर के बीच, धर्म और विज्ञान के बीच और पूर्व और पश्चिम के बीच कोई सेतु नहीं खोज पाये। मनुष्य को उसकी समग्रता में, उसकी आत्म दैहिक एकता में, तृप्ति देनी है। तभी वह स्वस्थ हो सकता है। ऐसी संस्कृति चाहिये, जो उसे उसकी पूर्णता (Totality) में अंगीकार करती हो। उसकी पूर्णता की सहज स्वीकृति से ही जो उसके जीवन को गति देना चाहती हो। जो उसे तोडती न हो और जो उसे आत्मद्वन्द्व और कलह से न भरती हो। जो उसके अंतस् बाह्य को संगीत दे सके। जो उसके अंतस् बाह्य को एक ही जीवन के दो पहलू मानती हो. . . दो विरोधी तत्त्व नहीं वरन् एक ही गीत की दो पूरक कडियां। क्या यह नहीं हो सकता है ?

मैं यही पूछना चाहता हूं।
वह सम्राट क्यों मर गया था ?
यह मनुष्य क्यों मर रहा है ?

२ : वह तो बस है :

धर्म हारता हुआ प्रतीत होता है।
अधर्म जीतता हुआ प्रतीत होता है।
क्यों ?
शायद इसलिये ही कि धर्म की शक्तियां आपस में ही विभाजित हैं। धर्म अनेक हैं। अधर्म एक है। शायद इसलिये ही धर्म पराजित है।

धर्म भी एक हो तो यह पराजय असंभव है। लेकिन धर्मों के कारण धर्म एक कैसे हो सकता है ?

धर्मों का अंत ही धर्म का जन्म बन सकता है।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध. . . . इन शब्दों और संप्रदायों के कारण ही उसका जन्म नहीं हो पाता है जो कि धर्म है।

धर्म संगठन ही धर्म के मार्ग में अवरोध हैं।

क्या धर्म की संगठनों (Organisations) से मुक्ति नहीं हो सकती है ?

वैसे धर्म का संगठन से संबंध ही क्या है ?

धर्म तो अत्यंत वैयक्तिक अनुभूति है। वह तो साधना है। संगठन वह नहीं है।

धर्मशास्त्र भी धर्म के लिये जंजीरें हैं। उनकी सीमाओं में असीम को बांधने की कोशिश व्यर्थ तो है ही, अनर्थ भी है।

शब्द में निशब्द को कैसे बांधा जा सकता है ? और बांधते ही उसकी हत्या हो जाती हो तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

धर्म का न कोई शास्त्र है, न हो सकता है।

धर्मानुभूति का द्वार शब्द जो नहीं है। उसका द्वार है मौन। वहीं वह है जहां सब शब्द खो जाते हैं। शब्द की लहरें जहां नहीं हैं, वहीं धर्म का सागर है।

धर्मगुरु धर्म के शत्रु हैं।

धर्म जिसे उपलब्ध होता है, उससे वह वैसे ही विकीर्ण होता है जैसे सूर्य से प्रकाश या फूल से सुगन्ध। वह किसी का गुरु नहीं बनता है। गुरु होने का अहंकार उसमें नहीं हो सकता है। क्योंकि, जहां अहंकार है वहां धर्म कहां ?

धर्मतीर्थ कहीं भी नहीं हैं क्योंकि जो भी है सभी में प्रभु का वास है, इसलिये सभी कुछ तीर्थ है और सब जगह उसका मंदिर है। उसके इस विशाल मंदिर के प्रति जो अंधे हैं वे ही अपने अपने छोटे छोटे मंदिर निर्मित करने के पागलपन में पडते हैं। फिर इन मंदिरों में झगडा स्वाभाविक है क्योंकि उनके निर्माताओं का अहंकार यह स्वीकार नहीं कर सकता है कि उनके मंदिर के अतिरिक्त भी कोई और मंदिर परमात्मा का है !

मित्रो ! मैं प्रार्थना करता हूं कि मंदिरों को छोडो ताकि उसके मंदिर के तुम्हें दर्शन हो सकें। शास्त्रों को छोडो ताकि उसका शास्त्र तुम्हें दिखाई पड सके। और संप्रदायों को छोडो ताकि तुम धर्म को पा सको। वह तो अत्यंत निकट है लेकिन हम अपने ही हाथों स्वयं को उससे दूर किये हुये हैं।

वह निकट ही नहीं. . . . निकट से भी निकट है।

वह हमारी सत्ता है।

वह हम स्वयं हैं।

लेकिन हम उसे दूर खोजते हैं और इसलिये खो देते हैं।

काशी में या काबा में, राम में या कृष्ण में, बुद्ध में या महावीर में। लेकिन कोई भी उसे स्वयं में नहीं खोजता है!

कैसी विडम्बना है?

वह काबा में भी है, काशी में भी, राम में भी कृष्ण में भी लेकिन जो उसे स्वयं में ही नहीं पाता है, वह उसे कहीं भी नहीं पा सकता है।

और जो उसे स्वयं में पा लेता है, वह उसे अनिवार्यतः सबमें पा लेता है।

लेकिन उसे स्वयं में पाने के लिये राम और कृष्ण से, बुद्ध और महावीर से मुक्त होना अत्यंत आवश्यक है।

यह उनके प्रति अनादर नहीं है। बल्कि यही आदर है. . . क्योंकि ऐसे ही उन जैसा होने की संभावना का द्वार खुलता है।

धर्म सबको छोड स्वयं पर आना है।

और स्वयं पर आते ही आश्चर्यों का आश्चर्य घटित होता है क्योंकि स्वयं पर आते ही स्व मिट जाता है। फिर जो शेष है वही सत्य है। वह न स्व है, न पर है। वह तो बस है।

—००—

धर्म : विचार नहीं, उपचार

अहमदाबाद में प्रवचन :

संकलन : श्री. अनूप सेठ

सत्य की खोज में जो सबसे बडी बाधा है, अक्सर उस बाधा की ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता है और फिर जो भी हम करते हैं, वह सब मार्ग बनने की बजाय मार्ग को अवरुद्ध करनेवाला हो जाता है। एक अंधे आदमी को यदि प्रकाश जानने की कामना पैदा हो जाये, आकांक्षा पैदा हो जाये कि मैं भी प्रकाश को और सूर्य को जानूं तो वह क्या करे ? क्या वह प्रकाश के संबंध में शास्त्र पढे ? क्या वह प्रकाश के संबंध में सिद्धांतों को सीखे ? क्या वह प्रकाश के संबंध में बहुत ऊहापोह और विचार में पड जाय ? क्या वह प्रकाश की कोई फिलोसफी, कोई तत्वदर्शन अपने सिर पर बांध ले ? और क्या इस भांति प्रकाश का दर्शन उसे हो सकेगा ? नहीं, जिस अंधे व्यक्ति को प्रकाश की खोज पैदा भी हो उसे प्रकाश के सम्बन्ध में नहीं, अपने अंधेपन के संबंध में, अपने अंधेपन को बदलने के संबंध में निर्णय लेने होंगे। उसे अपनी आंखों के संबंध में सोचना पडेगा। क्या नहीं ?

प्रकाश को जानना हो तो आंखों के संबंध में कुछ करना पडेगा। प्रकाश के संबंध में कुछ भी नहीं। लेकिन यदि वह प्रकाश के संबंध में कुछ करने में लग जाय तो वह शक्ति और श्रम व्यर्थ जायगा क्योंकि उसी शक्ति और श्रम से आंखें भी खुल सकती हैं। लेकिन सामान्यतः यही होगा। चक्षुहीन को जब भी प्रकाश के संबंध में कोई ख्याल और कामना पैदा होगी तो वह प्रकाश के संबंध में श्रम करना शुरु कर देगा। ऐसा सभी श्रम व्यर्थ है, ऐसा सभी श्रम निरर्थक है। सार्थक हो भी सकती है उसकी खोज यदि वह आंख के संबंध में कुछ करे। इसलिये धर्म को मैं विचार नहीं कहता हूं। कहता हूं उपचार। धर्म कोई वैचारिक खोज नहीं है, बल्कि आत्मचिकित्सा है। वह स्वयं का उपचार है। धर्म कोई कोरे

वैचारिक तत्त्वज्ञान की बात नहीं बल्कि भीतर बंद आंखों को खोलने का मार्ग और पद्धति है। इस अर्थ में धर्म जीवन का परम विज्ञान है। उपचार है इसी-लिये।

एक गांव में एक अंधा आदमी था। उसके मित्रों ने एक दिन उसे भोजन पर आमंत्रित किया। उसे भोजन में कुछ चीजें पसंद आईं। उसने पूछा कि ये कैसे बनी हैं? उसके मित्रों ने कहा: दूध से बनी हैं। वह अंधा मित्र बोला: मैं जानना चाहूंगा कि दूध कैसा होता है? ठीक था उसका पूछना, उसके पूछने में तो कोई गलती नहीं थी लेकिन मित्र पंडित रहे होंगे। उन्होंने समझाना भी शुरु कर दिया। उन मित्रों ने दूध के संबंध में भी समझाना शुरु कर दिया कि दूध कैसा होता है। एक मित्र ने कहा कि तुमने नदी पर उडता हुआ बगुला देखा होगा। उसके जैसे सफेद, शुभ्र पंख होते हैं वैसा ही दूध का रंग होता है। वह अंधा बोला, मुझसे मजाक न करें, मैंने तो बगुला देखा नहीं और शुभ्र रंग क्या है, यह भी मुझे पता नहीं। तो मेरी पहली समस्या वहीं खडी है कि दूध कैसा होता है। एक दूसरी समस्या और खडी हो गई कि यह सफेद रंग क्या होता है और तीसरी और खडी हो गई कि यह बगुला क्या होता है। आपके उत्तर ने मुझे और कठिनाई में डाल दिया। मित्र परेशान हुये। एक दूसरे मित्र ने समझाने की कोशिश की कि बगुला कैसा होता है। वह अपने हाथ को उस अंधे मित्र के करीब ले गया और कहा कि मेरे हाथ पर हाथ फेरो। जैसा, मेरा हाथ मुडा हुआ है वैसी ही बगुला की गर्दन होती है। उस अंधे ने उसके हाथ पर हाथ फेरा और खुशी से उसकी आंखों में आँसू आ गये और वह बोला कि मैं समझ गया कि दूध कैसा होता है.... "मुडे हुये हाथ की तरह।"

ठीक ही उसने कहा। ठीक ही उसका निष्कर्ष है। उस अंधे आदमी की तो कोई भी भूल नहीं। भूल है उन आंखवालों की जिन्होंने उसे आंख न रहते हुये प्रकाश और रंग और वस्तुओं के संबंध में कुछ समझाने की कोशिश की। मनुष्य का मन इधर हजारों वर्षों में सुलझा नहीं है, और उलझ गया है। और दया है उन पंडितों की, दार्शनिकों की और विचारकों की, जिन्होंने आत्मा परमात्मा और सत्य के संबंध में बहुत से विचार दे दिये हैं। और हमारे हाथों में उनका वही हाल हुआ है, जो उस अंधे के हाथों में हुआ था। उसने समझा कि मुडे हुये हाथ की तरह दूध होता है और हमारी भी परमात्मा और आत्मा और सत्य के संबंध में जो समझ है, वह इससे भिन्न नहीं। यही वजह है कि ये सत्य को समझाने-वाले लोग आपसमें लडते हैं। एक दूसरे की हत्या भी करते हैं। एक दूसरे

के विरोध में ही जीवन लगाते हैं और यह सत्य के समझने वाले लोग भी संप्रदाय खडा करते हैं और मनुष्य जाति को आपस में खंडित करते हैं और धर्म के नाम पर जो हुआ है, वह सभी कुछ हमें ज्ञात है। निश्चित ही सत्य की यह समझ किसी अंधे आदमी की समझ होगी, अन्यथा सत्य तो सौन्दर्यको लानेवाला है। वह जीवन को कुरूप तो नहीं करता। जीवन में संगीत को लानेवाला बनता वह सत्य। विसंगीत तो उससे पैदा नहीं होता। वह मनुष्य जाति को परमात्मा के निकट ले जानेवाला बनता। लेकिन यह सत्य की तथाकथित बातें और इनके केन्द्र पर बने हुये संगठन और संप्रदाय, परमात्मा तो बहुत दूर पडौसी से भी जोडने में समर्थ नहीं हो सके। इन्होंने पडौसी से भी पडौसी को तोड दिया है और जो पडौसी को पडौसी से तोड देता हो, वह उसे परमात्मा से जोड सकेगा, यह तो नितान्त असंभव है।

जो बात एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से भी नहीं जोड पाती, वह मनुष्य को परमात्मा से कैसे जोड सकेगी ? मंदिरों ने, मस्जिदों ने, संप्रदायों ने मनुष्य को ईश्वर से दूर रखने के सारे उपाय किये हैं, निकट पहुंचाने के नहीं। और यही तो वजह है कि तीन चार हजार वर्षों के इतिहास के बाद हम मनुष्य को पाते हैं कि वह और अधार्मिक होता चला जा रहा है। तीन चार हजार वर्षों की धार्मिक बनाने की चेष्टा और परिणाम यह ! बडी आश्चर्यजनक मालूम होती है यह बात। लेकिन मुझे आश्चर्य नहीं होता है। यह तथाकथित धार्मिकता का अत्यंत ही स्वाभाविक परिणाम है। और यदि मंदिर और मस्जिद, हिन्दू और मुसलमान और सत्य के नाम पर चलती हुई परंपरागत थोथी बातें इसी भांति चलती रहीं तो वह दिन भी दूर नहीं है जबकि धर्म तिरोहित हो सकता है। और स्मरण रहे कि धर्म की इस हत्या में, धर्म को नष्ट करने में अधार्मिक लोगों का हाथ नहीं है। इन सबको नष्ट करने में उन्हीं लोगों का हाथ है, जिन्होंने धर्म को उपचार न बनाकर, एक विचार और उपदेश, एक सिद्धांत और एक तत्वज्ञान बनाया। एक चिकित्सा नहीं, एक विज्ञान नहीं, जो कि मनुष्य की आत्मा को परिवर्तित करे। बल्कि उन्होंने धर्म को बनाया एक वादविवाद, सैद्धांतिक ऊहापोह और अनुमान। परिणामतः उनकी शास्त्रीयता ने जीवन को और उलझा दिया। बजाय इसके कि वे जीवन की कोई समस्या और प्रश्न को हल करते, उनका हर समाधान नये प्रश्नों को जन्म देने में सहयोगी होता चला गया। पांच हजार वर्षों में कौनसा प्रश्न हल हुआ है ? आत्मा का या परमात्मा का या मोक्ष का, जन्म का या पुनर्जन्म का। मनुष्य के जीवन का कौनसा प्रश्न

हल हुआ है, पांच हजार वर्षों में ? समाधान तो बहुत दिये गये हैं लेकिन हल कहां हुआ है ? बल्कि यदि देखे थोडी भी आंखें खोलकर तो दिखायी पडेगा कि हर समाधान और नयी समस्यायें खडा करता है। प्रश्न बढते गये हैं और उत्तर कोई भी नहीं है। और फिर भी हमें यह दिखाई नहीं पडता है कि यह उत्तर की खोज ही कहीं बुनियाद में गलत तो नहीं है। और यह सब समाधानों का सिल-सिला हमें एक दूसरे से अलग करता गया है और तोडता गया तो नहीं है ?

शास्त्रों को, शब्दों को, सिद्धांतों को समाधान समझ लेने की भूल से ही यह सब भ्रांति पैदा हुई है। शद्वों में समाधान नहीं है। समाधान तो चित्त के परिवर्तन में है। व्यक्तित्व के परिवर्तन में समाधान है। असमाधान जहां है, वहीं समाधान भी खोजना है। आंखें नहीं हैं, तो समस्या आंखों के इलाज की है। प्रकाश के तत्वदर्शन से क्या होगा ? लेकिन अंधे व्यक्ति शायद प्रकाश के संबंध की जानकारी से आंखों की कमी पूरा कर लेना चाहते हैं ! लेकिन प्रकाश को जानना और प्रकाश के संबंध में जानना बिल्कुल ही भिन्न बातें हैं। और जो प्रकाश के संबंध में सत्य है, वही परमात्मा के संबंध में भी सत्य है। उसे देखने के लिये भी शास्त्र नहीं, शब्द नहीं, सिद्धांत नहीं, बल्कि आंखें चाहिये। निश्चय ही वे आंखें चित्त के परिवर्तन से उपलब्ध होती हैं। धर्म अंतस् की आंखों की खोज है। लेकिन वह आंतरिक क्रांति न बनकर एक सांप्रदायिक मताग्रह बन गया है अंधों के हाथों में। अंधों ने आंखों की चिकित्सा की जगह प्रकाश के सिद्धांतों पर युद्ध खडे कर रखे हैं। इसलिये तो धर्म के नाम पर जो उपद्रव दिखाई पडता है वह आकस्मिक नहीं है। वह धर्म को उपचार न मानकर विचार मानने की भूल का सहज परिणाम है। मेरे लिये धर्म चिकित्सा है . . . आंखों की। उन आंखों की जो कि प्रत्येक को उपलब्ध हैं लेकिन बंद हैं।

सत्य को समझा नहीं जा सकता, सत्य को देखा जा सकता है। फिर से दोहराता हूं : सत्य को समझा नहीं जा सकता है, सत्य को देखा जा सकता है। सत्य को वैचारिक रुप से नहीं जाना जा सकता. . . . न हीं सत्य की कोई धारणा वैचारिक रुप से बनायी जा सकती लेकिन सत्य को अनुभव किया जा सकता है। सत्य के संबंध में विचार की कोई गति नहीं, लेकिन आंख की गति है। इसलिये मैं कहता हूं कि धर्म एक चिकित्सा है, एक उपचार है।

सत्य को जानने की जिज्ञासा किसके मन में नहीं है ? ऐसा कौन मनुष्य है जिसमें जीवन हो, जिसके प्राणों में स्पन्दन हो और जिसके हृदय में कभी न कभी जीवन के सत्य को जानने की आकांक्षा पैदा न हो जाती हो ? ऐसा

कौनसा मनुष्य है, जो जीवन के अर्थ को और अभिप्राय को जानने से वंचित रह जाना चाहता हो ? ऐसा कौनसा मनुष्य है जो यह न जान लेना चाहता हो कि वह क्यों है और किसलिये है ? और उसकी इस सारी जीवनयात्रा का कोई अर्थ भी है या कि सब अर्थहीनता है ? निश्चित ही हरएक के मन में यह प्यास किसी न किसी दिन पैदा होती है लेकिन यह प्यास पैदा होते से ही भटक जाती है। भटक जाती है इसलिये कि वह सत्य के संबंध में विचार करने लगता है। सत्य के संबंध में सब विचार अंधे के प्रकाश को टटोलने से ज्यादा नहीं है। और इस अंधी टटोल में यदि कुछ बातें बहुत सम्यक्, तर्कयुक्त, प्रमाणिक और संगत (Coherent) भी मालूम पडें तो भी वह संगति...विचार, कल्पना और अनुमान की ही है, उससे सत्य का कोई वास्ता नहीं है।

एक इन्स्पेक्टर किसी स्कूल में विद्यार्थियों की परीक्षा लेने आया था। उसके पहले ही खबर आ गई थी कि वह पागल है। उसके प्रश्न ही ऐसे होते थे कि बच्चे उत्तर नहीं दे पाते थे। बच्चे क्या शिक्षक भी उत्तर नहीं दे पाते थे और तब वह स्कूल की रिपोर्ट खराब कर जाता था। वह परीक्षा लेने एक स्कूल में आया तो शिक्षक घबराये हुये थे। प्रधान अध्यापक घबराया हुआ था। बच्चे घबराये हुये थे। उसके प्रश्नों में कोई अर्थ ही नहीं होता था। उत्तर देने का सवाल ही नहीं था। उसने आते ही बच्चों से पूछा कि एक प्रश्न जो मैं सब जगह पूछता हूं उसका अभी तक किसी ने उत्तर नहीं दिया वही मैं तुमसे भी पूछता हूं। अगर तुमने उसका उत्तर दे दिया तो मुझे और कुछ भी नहीं पूछना है क्योंकि उससे बात साफ हो जायेगी। कोई हंडी के एक ही चावल को देख लेता है और बात साफ हो जाती है। उसने प्रश्न पूछा कि दिल्ली से एक हवाई जहाज प्रति घंटा दो सौ मील की रफ्तार से कलकत्ता की तरफ चला तो क्या तुम बता सकते हो कि मेरी उम्र कितनी है ?

बच्चे बहुत हैरान हुये होंगे। कोई भी हैरान होता। न तो यह कोई प्रश्न था और न कोई इसमें संगति ही थी। शिक्षक घबराये। प्रधान अध्यापक खडे थे। वह भी घबराये। जिन्दगी ने बडे बेबूझ प्रश्न खडे किये थे लेकिन यह तो जिन्दगी से भी ज्यादा बेबूझ प्रश्न था। इसका तो कोई अर्थ ही नहीं है लेकिन इससे भी एक बडा आश्चर्य यह हुआ कि एक बच्चे ने उत्तर देने के लिये हाथ हिलाया। तब तो अध्यापक और प्रधान अध्यापक और भी घबराये कि बात यहीं तक रहती तो ठीक थी। प्रश्न तो व्यर्थ था ही उत्तर और भी पागलपन होगा। लेकिन वह इन्स्पेक्टर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि खडे हो जाओ।

तुम पहले बच्चे हो जिसने कि हिम्मत की है उत्तर देने की। लोग तो चुप ही रह जाते हैं उत्तर देते वक्त। लडका खडा हुआ और उसने कहा कि मेरे अलावा कोई भी उत्तर दे भी नहीं सकता था। आप पूरे मुल्क में घूम लेते तो भी उत्तर मैं ही दे सकता था क्योंकि मामला ही कुछ ऐसा है कि मुझे ही इसके उत्तर का पता हो सकता है। इंस्पेक्टर ने कहा : पहले उत्तर दो। वह लडका बोला :"आपकी उम्र ४४ वर्ष है।" इन्स्पेक्टर तो एकदम हैरान ही हो गया। उसकी उम्र ४४ वर्ष की थी। उसने कहा, मैं हैरान हूं लेकिन तुमने किस विधि से यह उत्तर निकाला ? उस लडके ने कहा : "विधि बहुत सरल है। मेरा एक बडा भाई है वह आधा पागल है और उसकी उम्र २२ वर्ष है इसलिये आपकी उम्र ४४ वर्ष होनी ही चाहिये ! इस विधि से ही मैंने यह उत्तर निकाला है।'

धर्म के नामपर भी ऐसे ही विक्षिप्त प्रश्नों और उत्तरों का तांता लगा रहा है। प्रश्न पूछनेवाले तो ठीक हैं, लेकिन उत्तर देनेवाले भी आखिर मिल ही जाते हैं। शायद ऐसा सोचा जाता है कि जब प्रश्न पूछा जा सकता है तो उत्तर भी होगा ही। ऐसे एक शाब्दिक खिलवाड पैदा हो गया है। जिसकी पहुंच और गहराई शब्दों से ज्यादा गहरी नहीं है। शब्दों के शतरंज से शास्त्र भरे पडे हैं। और शब्दों की भाषागत् संगति ही सत्य की उपलब्धि समझ ली जाती है। भाषा मनुष्य निर्मित है, उसके नियम मनुष्य निर्मित हैं, उनकी पहुंच मनुष्य की सीमित बुद्धि से ज्यादा ऊंची न है न हो सकती है। तर्कयुक्तता भी मनुष्य की बुद्धि की सीमा के बाहर कोई अर्थ नहीं रखती है। वह सब भी खेलों में तय किये गये नियमों से ज्यादा नहीं है। उसमें न तो कोई अनिवार्यता है और न स्वयं के बाहर उसकी कोई प्रमाणिकता या सार्थकता ही है।

मनुष्य सत्य की खोज में जिस खेल में उलझ जाता है, वह खेल है अनुमान का। अनुमान पुराना प्रश्न तो हल नहीं करते, नये प्रश्न जरुर खडे कर देते हैं। और नये प्रश्नों के उत्तर में नये अनुमान करने होते हैं, फिर ये अनुमान और नये प्रश्न खडे कर देते हैं। ऐसे एक चक्र और जाल पैदा हो जाता है। इस चक्र और जाल से धर्म का कोई भी संबंध नहीं है।

परमात्मा की कल्पना और अनुमान में उर्वर मस्तिष्कों ने क्या नहीं किया है। स्वर्ग और नर्क की कल्पनायें पैदा करने वाले लोग निश्चय ही क्षमता शाली कवि रहे होंगे ! और मोक्ष के चित्र बनानेवाले चित्रकारों की प्रतिभा पर कौन संदेह कर सकता है ? और दार्शनिकों की बुद्धिमत्ता का तो कहना ही क्या है ? उन्होंने तो अपने तर्कजाल से नयी सृष्टियों को ही जन्म दे डाला है। लेकिन यह

ध्यान रखना जरुरी है कि इन सब उर्वर और स्वप्न सर्जक दिशाओं से धर्म का कोई भी नाता नहीं है। धर्म की दिशा और ही है। वह ज्ञात से अज्ञात का अनुमान नहीं है। वह ज्ञात के आधार पर अज्ञात की मनोसृष्टि नहीं है। वह तो ज्ञात (Known) से मुक्ति है ताकि चेतना अज्ञात (Unknown) में प्रवेश कर सके। क्योंकि ज्ञात से अज्ञात नहीं जाना जा सकता है। वह तो तभी प्रगट होता है जबकि ज्ञात विदा हो जाता है। ज्ञात का सेतु अज्ञात से जोडता नहीं, तोडता है।

अज्ञात का न विचार हो सकता है, न अज्ञात की कल्पना हो सकती है, न अज्ञात का अनुमान ही हो सकता है। क्योंकि वैसा सब विचार, सब कल्पना, सब अनुमान ज्ञात का ही विस्तार होगा। वह ज्ञात का ही रुपांतर होगा। वह मूलतः नयी वेषभूषा में ज्ञात ही होगा। ऐसे उससे अज्ञात को जानने का भ्रम पैदा होता है, लेकिन वह अज्ञात नहीं है। और सत्य अज्ञात है, परमात्मा अज्ञात है। स्वयं की सत्ता अज्ञात है। जीवन अज्ञात है। इस अज्ञात को जानने की आंख ही तो धर्म है।

धर्म जब पतित होता है तो उसके पतन का मार्ग होता है..... काल्पनिक ऊहापोह, काल्पनिक विचार। अंधे आदमी को निश्चित ही प्रकाश के संबंध में बडी सूझें आती होंगी। उसे बडे बडे ख्याल सूझते होंगे। लेकिन क्या उसका कोई भी विचार प्रकाश के किञ्चित भी निकट पहुंच सकता है? अंध व्यक्ति को तो अंधकार का भी पता नहीं होता है! अंधकार को जानने के लिये भी तो आंखें जरुरी हैं! अंधकार का ज्ञान प्रकाश के अभाव का ही तो ज्ञान है। आंखें न होने पर वह भी नहीं हो सकता है। अंधे व्यक्ति को अंधकार का ही ज्ञान नहीं है, तो प्रकाश का अनुमान तो असंभव ही है। लेकिन धर्म बना हुआ है : प्रकाश की शिक्षा और उपदेश! आह! क्या इससे बडी भी भूल हो सकती है?

विचार की दिशा में सत्य को जानने और पाने का कोई द्वार नहीं है। लेकिन द्वार जरुर है। वह द्वार है आंख की दिशा में। अनुभव की दिशा में। साक्षात्कार की दिशा में।

क्या इससे मेरा अर्थ है कि आप विचार न करें और विश्वास करें?

विश्वास तो विचार से भी नीचे गिर जाना है।

विचार से नीचे नहीं गिरना है। विचार से ऊपर उठना है। और विचार की सीमाओं तक पहुंचाने में विचार सहयोगी है। उसके आगे विश्वास नहीं करना

है, वरन् निर्विचार हो जाना है।

विश्वास तो विचार ही नहीं पैदा होने देता है।

इसलिये विश्वास के विरोध में मैं कहता हूं विचार करो।

लेकिन विचार पर ही रुक मत जाओ। विचार की दिशा में ही भटक मत जाओ। विचार की सीमाओं को देखो और पहचानो। अज्ञात को जानने की उसकी असमर्थता का दर्शन करो। ऐसे निर्विचार के लिये पथ प्रशस्त होता है।

विश्वास पर जो ठहर जाता है, वह तो चलता ही नहीं है।

विचार में जो चलता ही जाता है, वह अंतहीन श्रृंखला में पड जाता है।

निर्विचार को जो उपलब्ध होता है, वह सत्य को उपलब्ध हो जाता है।

विश्वास के कांटे को विचार के कांटे से निकालना है।

विचार के कांटे को निर्विचार के कांटे से निकालना है।

और निर्विचार के कांटे को फेंक देना है क्योंकि फिर कोई कांटा निकालने को नहीं रह जाता है।

फिर जो चेतना शष रह जाती है, वही आंख है जिससे सत्य का साक्षात्कार होता है।

ऐसी चेतना पाने के तीन सूत्र हैं:

आत्मचिकित्सा का पहला सूत्र है: सरलता। सरल चित्तता। या शांति। जानने के पूर्व.....कुछ भी जानने के पहले, प्रेम या सत्य या सौन्दर्य, एक अत्यन्त शांत और सरल चित्त चाहिये। ज्ञान की.....जानने की वह पहली शर्त है।

चित्त हमारा बहुत अशांत है। और वही अशांति हमारा अज्ञान है। जैसे कोई झील लहरों से पीडित और कंपित हो और वह चांद के लिये दर्पण न बन पाती हो, ऐसा ही हमारा मन है। अशांत होने के कारण वह भी जीवन के लिये दर्पण नहीं बन पाता है। हमारी अशांति के कारण जीवन का प्रतिफलन हममें नहीं बन पाता है और हम उससे अपरिचित ही रह जाते हैं। उसके बीच... उसमें होकर भी उससे अपरिचित्त रह जाते हैं। सागर के बीच होकर भी जैसे कोई मछली सागर से परिचित न हो ऐसे ही हम हैं। परमात्मा में होकर भी परमात्मा को नहीं जान पाते हैं। वह तो सदा द्वार पर ही खडा है। क्या जीवन निरंतर सब ओर मौजूद नहीं है? क्या सब ओर केवल वही और वही ही नहीं है? वह तो जरुर है लेकिन शायद अशांति के कारण हम ही मौजूद नहीं है। परमात्मा तो उपस्थित है लेकिन हम अनुपस्थित हैं। अशांति स्वयं को

इतने खंड खंड में तोड देती है कि स्वयं की कोई उपस्थिति ही नहीं रह जाती है। और स्वयं के चित्त के इस भांति खंड खंड होने से उसमें जीवन के जो प्रतिबिम्ब बनते हैं वे भी खंड खंड हो विकृत हो जाते हैं। चित्त के इन अशांत खंडों में इतना अंतर्द्वन्द्व होता है कि परमात्मा द्वार पर खडा चिल्ला भी रहा हो तो सुनाई नहीं पड सकता है। और वह वस्तुतः निरंतर सब ओर से पुकार रहा है लेकिन हम अपने चित्त के शोरगुल में ही इतने डूबे हुये हैं कि करीब करीब बहरे ही हो गये हैं। यह बधिरता आंतरिक व्यस्तता से पैदा होती है। स्वयं में अत्यधिक व्यस्त (Occupied) होने से जीवन के प्रवेश के लिये रन्ध्र कहां, छिद्र कहां, द्वार कहां, अवकाश कहां? जीवन कहां से हममें प्रवेश करे? हम हैं भीतर भरे हुये अशांति से.....और इतने ठोस और आकंठ हम भरे हुये हैं कि वहां जीवन प्रवेश ही कैसे करेगा? सत्य के लिये स्वयं में शून्य नहीं है। वह तो द्वार पर खडा है लेकिन हम उसके ग्राहक नहीं है। हमारे चित्त का पात्र भरा हुआ है और यही हमारी अपात्रता है। उसे पाने की पात्रता चित्त खाली और रिक्त होते ही उपलब्ध हो जाती है।

अशांत चित्त ने आंखों को बंद किया है। शांत चित्त होते ही आंखें अचानक खुल जाती हैं। उन्हें फिर खोलना नहीं पडता है। अशांत हम क्यों हैं? कौनसी बात है जो हमें भीतर द्वन्द्व से भरे हुये है? कौनसा कारण है जो हमारे भीतर सब कोलाहल हो गया है? शांति तो हमें स्वप्न में भी अनुभव नहीं होती है। क्या हुआ है भीतर? शायद पशु पक्षी भी हमसे ज्यादा शांत है, पौधे भी ज्यादा शांत हैं। चांद तारे भी ज्यादा शांत हैं। मनुष्य को कौनसा रोग हो गया है? इस पूरे विश्व में मनुष्य के सिवाय और अशांति कहां है? अगर जमीन से मनुष्य हट जाये .....और मनुष्य पूरी कोशिश कर रहा है कि हट जाय, हटने की पूरी चेष्टा कर रहा है.....तो जमीन पर अशांति कहां? मनुष्य की आंखों के अतिरिक्त और किसी पशु और पक्षी की आंखों में भी अशांति दिखाई पडती है? अशांति, बेचैनी, तनाव क्या सभी मनुष्य की ईजादें नहीं हैं? पक्षी भी हमसे ज्यादा गीत गाने की स्थिति में हैं और हम तो गीत भी गाते हैं तो झूठे होते हैं!

नीत्से से किसी ने पूछा था कि तुम निरंतर हंसते रहते हो, बात क्या है? नीत्से ने कहा था इसलिये स्वयं को हंसने में उलझाये रहता हूं कि कहीं रोने न लगूं! आह! कितनी सत्य बात है। मनुष्य के संबंध में कितना कडुवा लेकिन सत्य तथ्य है। तो हम गीत भी इसलिये गाते हैं कि कहीं रोने न लगें और

हम फूलों को अपने हृदय पर चिपकाये रहते हैं कि भीतर के कांटे न दिखाई पड जायें और हम ऊपर से सुन्दर दीखते हैं भीतर जो है उसे छिपाने और ढांकने को। मनुष्य न मालूम किस दुविधा में है? मनुष्य न मालूम किस अंतर्संघर्ष (Conflict) में है, कैसे द्वन्द्व में है? इस द्वन्द ने सब अशांत कर दिया है और इस अशांति से बचने के लिये वह पूछता है कि हम ईश्वर को कैसे जानें, हम आत्मा को कैसे पायें, हम मोक्ष में कैसे जायें। नहीं, मोक्ष और आत्मा और ईश्वर के संबंध में सोचना व्यर्थ है। सार्थक होगी यह बात, यह जान लेना कि मैं अशांत क्यों हूं। और फिर जानकर उस अशांति के कारण से मुक्त हो जाना सार्थक हो सकता है। और जो अशांति से मुक्त है, वह मोक्ष में है, जो अशांति से मुक्त है वह आत्मा में है, जो अशांति से मुक्त है वह सदा परमात्मा में है।

अशांति का पहला कारण तो यह है कि हर मनुष्य जैसा है और जो है उससे तृप्त होने के लिये राजी नहीं है। वह कुछ और होना चाहता है। हर मनुष्य कुछ और होना चाहता है। वह जो है और जैसा है उससे राजी नहीं है और जबकि जीवन के बुनियादी सत्य में से एक सत्य यह है कि जो मनुष्य जो है वही हो सकता है, कुछ और नहीं। कुछ और होने की दौड मूर्खतापूर्ण है, कुछ और होने की दौड़ नासमझी है। कुछ और होने की दौड में ही चित्त तनता है और खिंचता है और अशांत होता चला जाता है और विफल होता चला जाता है। और अंततः एक पीडा के अतिरिक्त स्वयं में कुछ भी नहीं छूट जाता है। जो मनुष्य जो है वह वही हो सकेगा। लेकिन किसी ने सिखा दिया है कि तुम कुछ और हो जाओगे। हजारों साल की शिक्षायें काम कर रही हैं..... दूषित, भ्रांत, निरंतर समझाया जा रहा है महावीर जैसा हो जाओ, राम जैसा हो जाओ, कृष्ण जैसा हो जाओ, क्राइस्ट जैसा हो जाओ। लेकिन कोई यह कहनेवाला नहीं है कि तुम अपने जैसा हो जाना। यही सिखाया जा रहा है कि तुम किसी और जैसे हो जाओ, जैसे कि हमारे अपने होने का कोई प्रयोजन ही नहीं है! बस, तुम किसी और की अनुकृति, किसी और की कार्बन कापी पैदा होने को पैदा हुये हो! जैसे कि तुम्हारे अपने होने की कोई अर्थवत्ता ही नहीं है। तुम किसी और के होने का अभिनय करने के लिये पैदा हुये हो....राम हो जाओ, कृष्ण हो जाओ, लेकिन क्यों? क्या प्रत्येक मनुष्य का स्वयं होने का अधिकार नहीं है? निश्चित ही प्रत्येक मनुष्य को परमात्मा जन्म देता है। उसे अधिकार है कि वह स्वयं जैसा हो। किसी और जैसे होने की दौड गलत है। यह

जो किसी और जैसे आदर्श के अनुकूल होने की चेष्टा शुरू होती है, उसमें मनुष्य विकृत, द्वन्द्वग्रस्त और पीडित होता चला जाता है। और फिर विकृति के कारण और भी आदर्श निर्मित करने होते हैं, क्योंकि मनुष्य को बचाना आवश्यक होता है। और ये आदर्श और विकृति लाते हैं। ऐसे एक दुष्टचक्र पैदा होता है। इसी दुष्टचक्र से पूरी मनुष्यता पिस रही है। असभ्य लोग भी सभ्य लोगों से ज्यादा शांत हैं और शांत थे, लेकिन सभ्य आदमी अशांत होता जाता है। जितनी सभ्यता बढती है, उतनी विक्षिप्तता बढती है। अमरीका ने तो जैसे चरम अंक छू लिया है सबसे ज्यादा पागल पैदा करने का। अमरीका सबसे बडा सभ्य मुल्क है इससे यही सिद्ध होता है..यह तो बिल्कुल साफ ही है। जो मुल्क सबसे ज्यादा पागल पैदा करता है वह सबसे बडा सभ्य मुल्क है और जिस दिन कोई मुल्क पूरा पागल हो जायेगा, वह उसकी संस्कृति की चरम अवस्था होगी! व्यक्ति व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व है। इस व्यक्तित्व पर अन्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व को थोपने की चेष्टा विक्षिप्तता पैदा न करेगी तो और क्या पैदा करेगी? व्यक्ति को वही होने दो जो कि वह हो सकता है, तो ही वह स्वस्थ रह सकता है। उसे कुछ और बनाने की चेष्टायें उसे ज्वरग्रस्त ही कर सकती हैं। सभ्यता का महारोग यही है। मनुष्य को भी आदर्श ढांचों में ढालने की कोशिश ने मनुष्य का जीवन ही विषाक्त कर दिया है। मनुष्य की शांति और स्वास्थ्य के लिये उसे स्वयं होने की सुविधा और स्वतंत्रता चाहिये। यह सुविधा और स्वतंत्रता आप स्वयं को दें। स्वयं को स्वीकारें। किसी और से स्वयं की तुलना न करें। आप आप ही हैं। आप कोई और नहीं हैं। और जैसे ही आप किसी और से स्वयं की तुलना करते हैं, आप अशांत और विक्षिप्त होने की दिशा में गतिमय हो जाते हैं। बढती हुई अशांति और विक्षिप्तता तुलना करनेवाली सभ्यता की छाया है। जबकि तुलना (Comparison) मात्र असंगत और अर्थहीन है।

सभ्यता ने आदर्श और किसी और जैसा होने की दौड पैदा की है, जबकि प्रत्येक मनुष्य अनूठा और अद्वितीय है, बेजोड (Unique) है, उस जैसा कोई दूसरा मनुष्य न हुआ है, न होगा। प्रकृति पुनरुक्ति नहीं करती है, प्रकृति की सृजनशी.....लता इतनी अद्भुत है। परमात्मा दोहराता नहीं है। वह तो अनंत सर्जक है। उसकी सृजनशीलता सदा मौलिक है। उसकी सृष्टि में प्रतिक्षण प्रतिपल सब नया है। वहां कुछ भी पुराना नहीं है। सभी कुछ नया है। सभी कुछ एक ही बार है। जो सूरज कल उगा था वह अब कभी न उगेगा और जिन बादलों ने कल संध्या आपके घर पर छाया की थी वे अब कभी न करेंगे।

जो फूल पिछले वर्ष आये थे वह अब आने को नहीं हैं। प्रतिक्षण सब नया होता चला जाता है। एक मनुष्य भी वापस नहीं लौटता है। मनुष्य तो दूर है, किसी फूल की पत्तियां भी दोबारा नहीं खिलती हैं। एक एक व्यक्ति अनूठी कृति है अगर यह ख्याल में आ जाय तो चित्त की कुछ और होने की दौड विलीन हो जायगी। तब आप इस कोशिश में नहीं रह जायेंगे कि मैं किस जैसा हो जाऊं और जैसे ही यह ख्याल चला जायेगा कि मैं किस जैसा हो जाऊं वैसे ही एक अत्यन्त शांत मन (Silent Mind) की भूमिका खडी हो जाती है। इस दौडके फिर और रूप भी हैं, पर वे इसी दौड के रूप हैं। दूसरे जैसे मकान बनाने की कोशिश चल रही है, दूसरे जैसे कपडे पहनने की कोशिश चल रही है, दूसरे जैसे पद पाने की कोशिश चल रही है। उन सबकी बुनियाद में दौड वही है। बुनियाद में दौड यही है कि मैं अपने होने से सहमत नहीं हूं और मैं अपने होने को स्वीकार नहीं कर रहा हूं। मैं किसी और के होने से सहमत हूँ, किसी और के होने को स्वीकार कर रहा हूं और बडे मजे की बात तो यह है कि अगर मैं उस आदमी के पास जाकर थोडा सा भी निरीक्षण करूं तो पाऊंगा कि वह भी इसी पागलपन से पीडित है। वह किसी और के होने को स्वीकार कर रहा है, वह किसी और जैसे होने के लिये पीडित और परेशान है।

विक्षिप्त आदमी का पहला लक्षण है कि वह दूसरे जैसा होने की कोशिश में पड जाता है। यह पागल आदमी की आधारभूत वृत्ति है। एक बहुत पुरानी घटना है। एक युवक अपने गुरूकुल से वापस लौटता था। उसकी शिक्षा पूरी हो चुकी थी और दीक्षान्त समारोह भी हो गया था। वह था बहुत दरिद्र और दीन हीन। वह अपने गुरु को विदा के क्षण में कुछ भी भेंट नहीं कर सकता था। दूसरे राजपुत्र थे, धनिक पुत्र थे, उन सबने बहुत भेटें गुरु को भट दी। किन्तु उस वक्त सिर्फ आंसू गिराने के उसके पास और कुछ न था। उसने गुरु के पैर छुये और रोता रहा और कहा कि मुझे यह वचन दें कि जब कभी मेरे पास कुछ हो और मैं भेंट करने आऊं तो आप इन्कार न करेंगे। आज तो मेरे पास सिवाय आंसुओं के और कुछ नहीं है। उसके गुरु ने कहा कि तुमने जो दिया है वह किसी ने नहीं दिया है। तुम कुछ और देने की चिंता मत करो। प्रेम से बडा दूसरा कुछ नहीं है। लेकिन फिर भी वह यह वचन लेकर ही गया कि कभी लायेगा तो गुरु अस्वीकार नहीं करेंगे। वह राजधानी पहुंचा अपने देश की और अपने एक मित्र के परिवार में मेहमान हुआ। रात उसने अपना दुख कहा कि मैं गुरू को बिना कुछ दिये आ गया हूं। मेरे मन में

बडी पीडा है। बरसों उनके पास था, उनका ही भोजन किया, उनके ही वस्त्र पहने, उनसे ही शिक्षा पाई और अंतिम क्षण में भी मैं उनको कुछ देकर नहीं आया। उस परिवार के लोगों ने कहा, चिंता मत करो, सुबह थोडा जल्दी उठ जाना और राजा के द्वार चले जाना। यहां के राजा ने घोषणा कर रखी है कि दिवस का पहला याचक राजद्वार से कभी खाली हाथ वापिस नहीं लौटेगा। और वह जो भी मांगेगा राजा उसे देगा। तुम चाहते क्या हो? उसने कहा:" "बस पांच स्वर्ण मुद्रायें मुझे मिल जायें तो पर्याप्त हैं, मैं उन्हें गुरुचरणों में चढाकर अपरिसीम आनंद पा लूंगा। पांच स्वर्ण मुद्रायें भी उस दरिद्र बालक के लिये बहुत बडी संपदा थी। उसने कभी पांच स्वर्ण मुद्रायें भी इकट्ठी नहीं देखी थीं और देखी भी थीं तो दूसरे के हाथों में देखी थीं। उसने तो स्वर्ण का स्पर्श भी नहीं जाना था। इसलिये उसकी कल्पना ज्यादा से ज्यादा जितना दौड सकती थी वह पांच स्वर्ण मुद्राओं की ही सीमा थी। मित्र ने कहा: घबराओ मत, सुबह जल्दी चले जाना और बहुत जल्दी भी नहीं है, क्योंकि याचक मुश्किल से कभी कोई जाता है। देश इतना समृद्ध है, लोग इतने खुश ह और प्रसन्न हैं कि भीख कौन मांगता है? लोग देना पसन्द करते हैं, मांगना कोई भी पसन्द नहीं करता फिर भी वह जल्दी उठा और राजद्वार पहुंच गया। राजा अपने बगीचे में घूमने निकला था। वह वहां पहुंच गया और कहा कि मैं पहला याचक हूं, राजा ने कहा कि आज, आज के ही नहीं, तुम सदा के पहले याचक हो, क्योंकि अबतक कोई याचक मेरे पास आया ही नहीं और मैं निरंतर प्रतीक्षा करता हूं कि कोई आये। और तुम आये हो तो मै खुश हूं। बोलो क्या मांगते हो। तुम जो भी मांगोगे मैं दूंगा, वह पांच मुद्राये सोचकर आया था लेकिन अब उसने सोचा कि यदि मैं केवल पांच ही मागूं तो नासमझी होगी। क्यों न पचास मांगू, क्यों न पांच सौ मागूं, जब राजा कहता है कि जो मांगोगे वही दे दूंगा तो गलती क्यों करूं? जीवन में मांगने की समस्या को सदा के लिये हल ही क्यों न कर लूं? यह दौड ही खत्म हो जाय तो अच्छा है.....अच्छा हो पांच लाख मांग लूं? उसके मन में चिंता और गणित का विस्तार होने लगा. राजा ने कहा तुम सोचो, जल्दी कुछ है नहीं, मैं तब तक बगिचाका एक चक्कर लगा आऊं। युवक सोचता रहा, संख्या बढती गई और आज उसे पहली दफा पछतावा हुआ कि उसने और बडी संख्यायें क्यों न सीखी। आखिर जाकर संख्यायें एक जगह ठहर गई। उसके आगे कुछ पता ही न था कि और संख्यायें होती हैं। राजा तबतक चक्कर लगाकर आ गया और वह भी अपनी संख्या की अंतिम सीमा

पर पहुंच गया था। दुखी और पीडित खडा था क्योंकि संख्या अटक गई थी और उसे मालूम न था कि और आगे कोई संख्या हो सकती है। राजा ने कहा, मालूम होता है तुम उलझ गये। फिर भी तुम सोच लो, मैं एक चक्कर और लगा आऊं। तभी उस युवक को ख्याल आया कि मैं सभी क्यों न मांग लूं जो कि राजा के पास है। संख्या की बकवास ही छोड दूं। कहूं कि जो भी तुम्हारे पास है सब दे दो... अशेष, पीछे कुछ बचा न रह जाय और जैसे दो कपडे पहनकर मैं आया था वैसे दो कपडे पहनकर तुम इस द्वार के बाहर निकल जाओ। उसने राजा से कहा। यह सोचा था कि राजा घबरा जायगा लेकिन राजा हुआ प्रसन्न. उसने आकाश की तरफ हाथ जोडा और कहा कि हे परमात्मा ! वह व्यक्ति आ गया है जिसकी मैं प्रतीक्षा कर रहा था। थक गया था और ऊब गया था प्रतीक्षा करते करते। आज वह व्यक्ति आ गया है जो मेरे भार को ले लेगा और मुझे मुक्त कर देगा। वह युवक घबरा गया परमात्मा को यह धन्यवाद सुनकर। उसने राजा से कहा, बडी कृपा होगी, मैं अभी अनुभवी नहीं हूं। आप एक चक्कर और लगा आयें। राजा ने कहा, हाथ छोडो और भीतर जाओ और मैं बाहर जाता हूं। मेरी शुभकामना तुम्हारे साथ है कि जिस तरह आज तुम मांगते आये हो किसी दिन इतने ही और इससे बडी खुशी से दे भी सको। लेकिन वह बोला कि मैं राजी नहीं हूं। आप एक चक्कर और लगा आयें। राजा चक्कर लगाने गया और जो होना था वही हुआ। लौटकर आया तो युवक को वहां पाया नहीं। वह भाग गया था।

एक बात उसे दिखाई दी कि जिसकी मैं आकांक्षा कर रहा हूं कोई उसे ही बोझ समझकर छोडने को तैयार है। इसको मैं दृष्टि कहता हूं, इसको मै देखना कहता हूं। तो जीवन को देखें, जिसके जैसा आप होना चाहते हैं क्या वह कुछ और होने की दौड में नहीं है? निश्चित ही आप पायेंगे कि सभी लोग कुछ और होने की दौड में हैं। तब एक सत्य स्पष्ट होना चाहिये कि कुछ और होने की दौड ही पीडा का मूल कारण है....दुख का, बैचेनी का अशांति का। और इसके साथ एक दूसरी दुर्घटना घटती है, जब मैं दूसरे जैसा होने की दौड में पड जाता हूं तो जो कि मैं हो सकता था वह भी नहीं हो पाता हूं। जो मेरे निसर्गने मुझे दिया था वह खिल नहीं पाता, जो मैं मेरे प्राणों में बीज की तरह लेकर आया था वह अंकुरित नहीं हो पाता क्योंकि मेरी सारी शक्ति कुछ और होने में लग जाती है जो मैं कभीहो नही सकता और मेरे प्राण अविकसित पडे रह जाते हैं और मेरी आत्मा अंधेरे में पडी रह जाती है। यही है

पीडा। यही है दुख। यही है अशांति।

इसलिये, शान्त होने के लिये पहला सूत्र है स्वयं जैसे हैं उसकी परिपूर्ण स्वीकृति ((Total Acceptabiiity)) परिपूर्ण स्वीकृति उसकी जैसा कि मैं हूं। किसी दूसरे की तुलना का कोई कारण नहीं है, क्योंकि हर व्यक्ति अतुलनीय ((Incom parable)) है। किसी दूसरे से तुलना करना एकदम मूर्खतापूर्ण है। अपने बच्चे को कहना कि देखो गांधी ऐसे हुये थे, तुम भी वैसा हो जाओ, इससे बडा विष, इससे बडा जहर और कुछ नहीं हो सकता है। यह बच्चे के व्यक्तित्व का घोर अपमान है। उससे यह कहना कि तुम क्राइस्ट जैसा हो जाओ उसका सम्मान नहीं है। किसी की किसी से तुलना करने का कोई कारण नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अनूठा और अलग है। प्रत्येक व्यक्ति: व्यक्ति है, इन्डीवीजुअल है। इसलिये किसी से कोई तुलना की बात नहीं है। यह जो तुलना करनेवाला दिमाग, है, यह अशान्त होता चला जाता है। तुलना न करें, किसी और से तुलना का कोई कारण नहीं। अपने होने को स्वीकृति दें। जैसे ही आप अपने को स्वीकार करेंगे वैसे ही आप पायेंगे कि उसकी छाया में एक गहरी शांति व्यक्ति में आनी शुरू हो गई है। स्वयं की सहज स्वीकृति से शांति उत्पन्न होती है। शांति लायी नहीं जा सकती है खींचकर। वह तो स्वयं के परिपूर्ण स्वीकार की छाया है। इसलिये जो लोग शांत होना चाहते हैं वे और अशांत होते जाते हैं। तथाकथित धार्मिक लोगों को देखिये, वे माला लिये बैठे हैं। शांत होने की कोशिश में और पाइयेगा वे और अशांत हुये जाते हैं, वे उपवास कर रहे हैं शांत होने के लिये, पायेंगे और अशांत हुये जा रहे हैं। तथाकथित साधु संन्यासी को देखें, वह पागल की तरह शांत होने की कोशिश में लगा है बिना इस बात को जाने कि जहां भी कोशिश है, जहां भी प्रयत्न (Effort) है वहां अशांति शुरू हो जायगी, वहां चित्त अशांत हो जायगा, क्योंकि सब कोशिश कुछ और होने की कोशिश है।

शांति आती है उस व्यक्तित्व के केन्द्र पर जो अपने होने को पूर्णतया स्वीकार कर लेता है.....स्वीकार कर लें अपने होने को। एक छोटे से पौधे ही सही, बहुत बडे चीड के दरख्त न सही। बलूत का आसमान को छूता हुआ दरख्त न सही, घास के पौधे ही सही। एक छोटा सा घास का पौधा, लेकिन क्या मुकाबला है, क्या संबंध है, क्या तुलना है उसकी किसी से? किसने कहा घास का छोटा सा पौधा छोटा है बलूत के दरख्त से.....किस पागल ने कहा? बलूत का दरख्त बलूत का दरख्त है, घास का अंकुर घास का अंकुर है....दोनों का क्या मुकाबला, क्या संबंध, क्या तुलना? दोनों अपनी तरह

बेजोड और अनूठे हैं।

लाओत्से एक पहाड पर गया था। उसके मित्र उससे पूछते कि हम कैसे शांत हो जायें। उसने कहा कि किसी दिन कोई मौका मिलेगा तो मैं बताऊंगा। फिर उस दिन उसे मौका मिल गया। वे एक पेड़ के नीचे ठहरे थे। वह बहुत बडा दरख्त था। दूर दूर तक उसकी शाखायें फैली हुई थीं। उसके नीचे पांच सौ बैलगाडियां ठहर सकती थीं, इतनी बडी उसकी छाया थी। लेकिन चारों ओर दरख्त काटे जा रहे थे। एक अकेला वही वृक्ष जैसे काटे जाने से छोड दिया गया था। लाओत्से ने अपने मित्रों से कहा कि तुम जाओ और उन लकडहारों से पूछो कि इस दरख्त को तुमने क्यों छोड दिया, इसे क्यों नहीं काटा, और सब दरख्त तो काटे जा रहे हैं। लकडहारों से उसके मित्र पूछने गये। उन लकडहारों ने कहा कि वह दरख्त बिल्कुल बेकार है। न तो जानवर उसके पत्ते खाते हैं, हैं, न उसकी लकडी जलती है, उसमें धुआँ होता है, न उसकी लकडी सीधी है कि मकान के काम आ जाय, न उसकी मेज कुर्सी बन सकती है। वह दरख्त बिल्कुल ही बेकार है, वह किसी काम का नहीं है। उसके मित्र लौटे और कहने लगे कि यह दरख्त बिल्कुल बेकार है। लाओत्से यह सुन हंसने लगा और बोला: "धन्यवाद है इस वृक्ष को, क्योंकि फिर भी इसने किसी और जैसा न होना चाहा। इसलिये यह इतने आनन्द में है, इतना शांत है और इसीलिये इसके आनंद की छाया में इतने लोग विश्राम पाते है। मेरे मित्रो! क्या तुम इससे कोई भी सीख न लोगे?।

जो व्यक्ति किसी और जैसा होने की कोशिश में पडता है वह प्रतिस्पर्धा में पड जाता है। वह प्रतिस्पर्धा को आमंत्रित करने लगता है और जहां प्रतिस्पर्धा है वहां संघर्ष है और जहां संघर्ष है वहां दुख है और जहां दुख है वहां अशांति स्वाभाविक है। लेकिन जो व्यक्ति अपने जैसे होने से तृप्त हो जाता है, व्यक्तित्व के तल पर उसकी सारी स्पर्धावृत्ति विलीन हो जाती है। वह किसी के पीछे नहीं लगना चाहता है और न किसी के आगे ही होना चाहता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसे उसका विकास अवरूद्ध हो जाता है। नहीं, वरन् ऐसे ही वास्तविक विकास का जन्म होता है। वह जहां है और जैसा, अपने भीतर उसकी परिपूर्ण स्वीकृति, उसके भीतर छिपे हुये रहस्यों को अनायास ही अंकुरित करने लगती है। उसके भीतर कुछ होने लगता है जो बिल्कुल अनायास (Effortless) है, जो बिल्कुल सहज स्फूर्त है (Spontaneous)है। तब विकास घटित होता उसे खींचकर खींचकर नही होता है। शांति (Silence) में उसका जन्म होता है, शून्य में वह पैदा होता

है। एक बार चित्त में जो जो अशांति की दौड है उसके प्रति जाग जायें और देखें कि उसका अर्थ कितना है और सोचें कि जो लोग दौडकर कहीं पहुंच गये हैं, वे कहां पहुंच गये हैं, और उन्होंने क्या पा लिया है? दौडकर आजतक कोई भी अशांति के अतिरिक्त और कहीं नहीं पहुंच सका है। दौड ही तो अशांति है। अशांति, अशांति के अतिरिक्त और कहां पहुंचा सकती है? अशांति का हम उपक्रम करते हैं और शांति की आकांक्षा, अशांति के हम बीज बोते हैं और शांति के फूलों की प्रतीक्षा करते हैं! अशांति और सतत अशांति व्यक्तित्व को राख से भर देती है और फिर हम चाहते हैं कि सत्य, संगीत और सौदर्य हमारे प्राणों में आवास करे। नहीं.....यह कभी नहीं हो सकता है। राख हो गये व्यक्तित्व में .....अपनी ही मूढता में राख हो गये प्राणों में! यह कैसे हो सकता है? लेकिन स्मरण रहे कि राख को झाड दें तो भीतर सदा ही आत्मा का अंगारा उपलब्ध हो सकता है।

आत्मोपचार का दूसरा सूत्र है: जागरुकता। अनिद्रा भाव। अमूर्च्छा। जीवन में सोये हुये न रहना, हम सब सोये हुये लोग हैं। लगता है कि हम जागे हुये हैं। लेकिन वस्तुत: मुश्किल से ही कभी कोई आदमी जागता है। रात को हम सोते ही है। दिन में भी हम सोते हैं। सोये होने का मतलब जहां हम होते हैं, वहां हमारा चित्त नहीं होता है। चित्त कहीं और होता है। सोये होने का और क्या अर्थ है? आज रात आप अपने घर में सोयेंगे, सपना देखेंगे। आप लन्दन में हो सकते हैं, न्यूयार्क में हो सकते हैं सपने में। आप सोये तो अपने कमरे में हैं लेकिन हो सकते हैं न्यूयार्क में। सुबह जागके आप कहते हैं कि सब सपना था क्यों? क्योंकि सुबह आप अपने को वहीं पाते हैं जहां आप हैं और तब आप जानते हैं कि कहीं और होना झूठ था। जहां व्यक्ति है, अगर वहां से अन्यथा कहीं भी उसका चित्त है, तो वह सोया हुआ है। अभी आप यहां बैठकर मुझे सुन रहे हैं और अगर आपका मन कहीं और है तो आप सोये हुये हैं। आप फिर यहां मौजूद नहीं हैं आपके होने का कोई मतलब नहीं। लग रहा है आप यहां मौजूद हैं लेकिन आप यहां मौजूद नहीं हैं, आप सोये हुये हैं।

संत भीखण एक गांव में गये थे। रात्रि जब वे गांव के लोगों को कुछ समझा रहे थे, तभी उन्होंने देखा कि सामने ही बैठा हुआ गांव का सबसे बडा धनपति सो गया है। उस धनपति का नाम था: आसोजी। भीखण ने बीच में बोलना बंद करके कहा: "आसोजी, सोते हो?" उसने आंख खोली और घबराकर चारों ओर देखा। लेकिन कौन सोनेवाला कब मानता है अपने सोये हुये होने को। उसने

भी नहीं माना। वह बोला: "कौन कहता है कि मैं सोया हुआ हूं? मैं तो जागा हुआ हू। आह! सोये हुये होने को कोई भी स्वीकृति नहीं देता है। जबकि जो आदमी अपने सोये हुये होने को स्वीकार कर लेता है, केवल उसके ही जीवन में जागरण का प्रारंभ हो सकता है। लेकिन क्या कोई पागल कभी मानने को राजी होता है कि मैं पागल हूं? ऐसा ही सोने के संबंध में भी है। और यही सुरक्षा है पागलपन की ओर यही सुरक्षा है निद्रा की । निद्रा ही स्वीकार नहीं करने देती है। आसोजीने कहा: "कौन कहता है कि मैं सोया हुआ हूं.....मैं तो जागा हुआ हूं"। भीखण ने फिर बोलना शुरु किया लेकिन सोया हुआ आदमी कितना ही कहे कि मैं जागा हुआ हूं तो क्या इससे कोई फर्क पड सकता है? क्या इससे नींद रुकेगी? वह थोडी देर में फिर सो गया। भीखण ने फिर कहा–: " आसोजी, सोते हो?" "अबकी बार तो आसोजी को क्रोध ही आ गया। वह बोला: " आप भी क्या बार बार वही बात लगाये हुये हैं, मैं तो जागा हुआ हूं। मैं तो जरा आंख बंद करके सुनता हूं तो आप समझते हैं कि सोता हूं। मैं जरा ध्यान से सुनता हूं। इसलिये आपको सोये हुये होने का भ्रम पैदा होता है।". लेकिन थोडी देर में वह फिर सो गया। भीखण ने पुन: उसे टोका और कहा: "आसोजी, जीते हो?" आसोजी ने नींद में सुना कि शायद वही पुराना प्रश्न है। उसने कहा: "नहीं, नहीं कौन कहता हे?" भीखण ने पूछा था : "आसोजी, जीते हो?" उसने कहा कि "नहीं. .....नहीं....कौन कहता है। "उसने सोचा, फिर वही प्रश्न है कि सोते हो। फिर तो भीखण ने भी कहा: "नहीं...नहीं...कौन कहता है! कोई भी नहीं कहता है!"

और ठीक भी है। असल में जो सोता है, वह जीता भी नहीं है। सोने का अर्थ है चित्त के तल पर बेहोशी, मूर्च्छा (Unconscious) हम बिल्कुल मूर्च्छित हैं, चित्त के तल पर। और मूर्च्छा का रहस्य एक ही है कि चित्त वहां है जहां हम नहीं हैं। जागरण चाहिये चित्त में। निद्रा नहीं और उसका मार्ग है कि जो भी हम करते हैं उसे परिपूर्ण, जागे हुये और सावधानी से करें। रास्ते में चलते हों तो जागे हुये चलें। क्या मतलब है जागे हुये चलने का? जागे हुये चलने का मतलब होता है कि "वह जो चलने की जीवन्त क्रिया हो रही है, मन पूरी तरह उस क्रिया को देखे, जाने और निरीक्षण करे"। और ऐसा ही सब क्रियाओं के लिये हो। सब कुछ ध्यानपूर्ण हो। स्मृतिपूर्वक (Mindfully) हो। शारीरिक क्रियायें भी और मानसिक क्रियायें भी। सभी पर चेतना जागृत हो सोये सोये कोई क्रिया न हो। मन की धारा के प्रति भी हम जागे हुये

हों तो जिसे फ्रायड ने अचेतन (Unawareness) कहा है, वह भी सचेतन हो जाता है। वही है हमारे भीतर निद्रा का केंद्र.....वही है मूर्च्छा, बेहोशी। उससे ही मुक्त होना है। और निरंतर होशपूर्वक जीने से वह निश्चय ही समाप्त हो जाता है। वह है क्योंकि हम स्वयं के प्रति सोये हुये हैं। बुद्ध ने इस जागने की प्रक्रिया को सम्यक् स्मृति (Right Mindfulness) कहा है। गुरुजिएफ ने स्व–स्मरण (Self-Remembering) और कृष्णमूर्ति ने जागरुकता (Awareness) कहा है। लेकिन वह क्या है, इसे बिना किये नहीं जाना जा सकता है। करें और देखें। जागें और देखें। स्वयं पर थोडे प्रयोग करें। प्रारंभ में तो स्मरण बार बार खो जायेगा लेकिन धीरे धीरे उसकी गहराई बढती जाती है और भीतर के अचेतन का अंधकार कम होता जाता है। चेतना तीव्र होने लगती है। उसका आलोक फिर और विस्तीर्ण होने लगता है। और उसके साथ ही जीवन समग्ररूपेण नया हो जाता है। रात्रि की निद्रा से जागकर सुबह जो भेद मालूम पडता है, उससे भी बडा और मौलिक भेद उस जागरण से अनुभव में आता है जो कि हम तथाकथित जागरण से भी जागकर अनुभव करते हैं।

उस जागरण के समक्ष यह जागरण फिर निद्रा ही प्रतीत होता है।

आत्मस्वास्थ्य का तीसरा सूत्र है : शून्यता। अहंकार शून्यता "मैं" से मुक्ति।

"मैं" से हम इतने भरे हैं कि 'वह' प्रगट नहीं हो पाता है।

अहंकार एक लौह दीवार की भांति हमें घेरे हुये है। उसमें से प्रकाश के प्रवेशकी कोई भी संभावना नहीं है। और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यह है कि जो बिल्कुल ही असत्य है, वहीं अहंकार लौहावरण बना हुआ है!

लेकिन असत्य अहंकार से मुक्त हुये बिना सत्य स्वरुप की उपलब्धि कैसे हो सकती है? असत्य जिस पात्र में भरा है, उसमें सत्य नहीं भरा जा सकता है।

असत्य के विषसे स्वयं के पात्र को खाली करके ही उसमें अमृत को आमंत्रित किया जा सकता है। ऐसे तो अमृत की वर्षा निरंतर ही हो रही है लेकिन भरे हुये पात्र भरे होने के कारण ही उससे वंचित रह जाते हैं। परमात्मा तो हमपर प्रतिपल बरसता है लेकिन हम स्वयं से भरे हुये होने के कारण ही उससे खाली रह जाते हैं। भरे हुये होना ही हमारा दुर्भाग्य है। परमात्मा की वर्षा ऊपर से ही बहकर चली आती है। वर्षा तो पहाडों पर भी होती है और झीलों पर भी। लेकिन झीलें उससे भरकर धन्य हो उठती हैं और पहाड सूखे के सूखे रह जाते हैं क्योंकि वे पहले से ही भरे हुये जो हैं। गड्ढों पर भी पानी गिरता है और टीलों पर भी। पर गड्ढे अपनी रिक्तता में उसे अतिथि बना लेते हैं और

टीले अपने अहंकार में उसकी ओर देखते भी नहीं हैं। इसलिये मैं कहता हूं: धन्य हैं वे लोग जो गड्ढों की भांति खाली होने में समर्थ हैं क्योंकि उनकी रिक्तता और शून्यता के कारण ही वे परमात्मा की पूर्णता पाने के अधिकारी हो जाते हैं। और अभागे हैं वे लोग जो टीलों की भांति अपने ही दंभ से भरे हुये खडे हैं क्योंकि इस क्षुद्र अस्मिता में वे ब्रह्म के विराट को खो देते हैं।

और स्मरण रहे कि हम सब इस अहंकार से भरे हुये हैं।

हम सब अहंकार के पाषाण बोझ के नीचे दबे हुये हैं।

एक महाकवि किसी झील पर था। पूरे चांद की रात थी। और वह अपने बजरे में बैठा एक छोटी सी मोमबत्ती जलाकर कोई शास्त्र पढता था। आधी रात गये उसने मोमबत्ती बुझाई। मोमबत्ती बुझाते ही वह आनन्दविभोर हो नाचने लगा था। एक अभूतपूर्व अनुभव ने उसके प्राणों को आन्दोलित कर दिया था। मोमबत्ती के बुझते ही जैसे एक सत्य उसकी आत्मा में जल उठा हो। वह जैसे सोते से उठ बैठा हो... या जैसे अंधे को आंखें मिल गई हों, ऐसा ही कुछ हो गया था। जबतक मोमबत्ती जलती थी तबतक उसका धीमा और पीला सा प्रकाश बजरे मे था। लेकिन उसके बुझते ही चांद की चांदनी रन्ध्र रन्ध्र से, छिद्र छिद्र से, खिडकी से, द्वारसे सब ओर से कक्ष में भर आई थी। चांदनी का जैसे पूर ही आ गया था... बाढ ही आ गई थी। आह! जैसे एक परदा ही उठ गया था। क्या मोमबत्ती का मद्धिम प्रकाश चांद के लिये अवरोध बना हुआ था? क्या चांद उसके बुझने की प्रतीक्षा करता था? क्या उसके ही कारण.... उस छोटी सी मोमबत्ती के कारण वह द्वार पर ही ठिठका रह गया था? और इसके साथ ही एक और बडे सत्य का अनुभव भी उस कवि को हुआ था। मैं की... अहंकार की मोमबाती ही तो कहीं प्रभु के प्रकाश को बाहर नहीं रोके रखती है?

यह अहंकार (Ego) क्या है?
जो जीवन को इस भांति भरे हुये है... वह आखिर है क्या?
स्वयं में खोजने पर वह कहीं मिलता नहीं है।
लेकिन न खोजने पर वह जरुर है।
शायद आत्म अज्ञान का ही वह दूसरा नाम है।
मैं स्वयं को नहीं जानता हूं, शायद इसीलिये मैं हूं।
मैं को जो जान लेता है, उसका मैं शून्य हो जाता है।
तो चलो इस मैं की हम खोज करें।
शांत और मौन और जागरुक होकर इसकी तलाश करें।

चित्त की परत परत में इसे ढूढें।

जैसे कोई प्याज को छीलता है, ऐसे ही हम चित्त की परत परत को उठाकर इसे खोजें।

प्याज को छीलते छीलते अन्ततः शून्य हाथ आता है। ऐसे ही चित्त की परतों को उठाते उठाते भी अंततः शून्य ही हाथ आता है।

अहंकार शायद चित्त की परतों को दूर से देखने पर उनके बीच आभासित एकता का भ्रम है।

किसी वन को दूर से देखें तो वन दिखाई पडता है। और निकट से देखें तो वृक्ष और वृक्ष और वृक्ष.... लेकिन वन कहीं भी दिखाई नहीं पडता है।

ऐसे ही चित्त को दूर से देखें.... या ध्यान से न देखें तो अहंकार अनुभव में आता है। लगता है मैं हूं। लेकिन निकट से देखने पर मैं खो जाता है। रह जाता है केवल होना मात्र। यह "होना मात्र' ही शून्य का अनुभव है। इस शून्य में ही सत्ता अपनी परिपूर्णता में प्रगट होती है। इस शून्य में ही वह जाना जाता है जो ब्रह्म है। शून्य है स्वास्थ्य शून्य है मोक्ष। अंततः मैं ज्ञानचक्षु उपलब्ध करने की कीमिया को सूत्ररुप में पुनः दुहराये देता हूं :: –शांति – जागरुकता – अहंशून्यता। इस चक्षु को उपलब्ध करके ही वह जाना जाता है जो कि वस्तुतः है। वही है सत्य। वही है अमृत। वही ब्रह्म है।

ज्ञान गंगा

(विचारों से संकलित)

संकलनः डॉ. गोविन्ददास, एम. पी.

प्रेम या राग?

प्रेम से बड़ी इस जगत में दूसरी कोई अनुभूति नहीं है। प्रेम की परिपूर्णता में ही व्यक्ति विश्वसत्ता से संबंधित होता है। प्रेम की अग्नि में ही स्व और पर के भेद भस्म हो जाते हैं और उसकी अनुभूति उपलब्ध होती है, जो कि स्व और पर के अतीत है। धर्म की भाषा में इस सत्य की अनुभूति का नाम ही परमात्मा है। विचार-पूर्वक देखने पर विश्व की समस्त सत्ता एक ही प्रतीत होती है। उसमें कोई खंड दिखाई नहीं पड़ते हैं। भेद और भिन्नता के होते हुए भी सत्ता अखंड है। जितनी वस्तुएं हमें दिखाई पड़ती हैं और जितने व्यक्ति वे कोई भी स्वतंत्र नहीं हैं। सबकी सत्ता परस्पर आश्रित है। एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव हो जाता है। स्वतंत्र सत्ता तो मात्र समग्र विश्व की है। यह सत्य विस्मरण हो जाये तो मनुष्य में अहम् का उदय होता है। वह स्वयं को शेष सबसे प्रथक् और स्वतंत्र होने की भूल कर बैठता है, जबकि उसका होना किसी भी दृष्टि और विचार से स्वतंत्र नहीं हैं। मनुष्य की देह प्रति क्षण पंच भूतों से निर्मित होती रहती है, उनमें से किसी का सहयोग एक पल को भी छूट जाये तो जीवन का अंत हो जाता है। यह प्रत्येक को दृश्य है। जो अदृश्य है वह इसी भांति सत्य है। चेतना के अदृश्य द्वारों से परमात्मा का सहयोग एक क्षण को भी विलीन हो जाय तो भी मनुष्य विसर्जित हो जाता है। मनुष्य की यह स्वतंत्र सी भासती सत्ता विश्व की समग्र सत्ता से अखंड और एक है। इसीलिए अहंकार मूल पाप है। यह समझना कि "मैं हूं" इससे बड़ी और कोई नासमझी नहीं है। इस "मैं" को जो जितना प्रगाढ़ कर लेता है, वह उतना ही परमात्मा से दूर हो जाता है। यह दूरी भी वास्त-

विक नहीं होती, इसलिए इसे किसी भी क्षण नष्ट भी किया जा सकता है। यह दूरी वैसी ही काल्पनिक और मानसिक होती है, जैसे कि स्वप्न में हम जहां वस्तुतः होते हैं, वहां से बहुत दूर भी निकल जाते हैं। और फिर स्वप्न के टूटते ही दूरी ऐसे विलीन हो जाती है जैसे रही ही न हो। वस्तुतः तो परमात्मा से दूर होना असंभव है, क्योंकि वह हमारी आधारभूत सत्ता है। लेकिन विचार में हम उससे दूर हो सकते हैं। विचार स्वप्न का ही एक प्रकार है। जो जितने ज्यादा विचारों में है वह उतने ज्यादा स्वप्न में है। और जो जितने अधिक स्वप्न में होता है, वह उतना ही अहम् केंद्रित हो जाता है। प्रगाढ़ स्वप्नशून्य निद्रा में चूंकि कोई विचार नहीं रह जाते इसलिए अहम् बोध भी नहीं रह जाता। सत्ता तो तब भी होती है किन्तु विश्वसत्ता से एक होती है। "मैं" का भाव उसे तोड़ता और खंडित नहीं करता। लेकिन यह मिलन प्राकृतिक है और इससे विश्राम तो मिलता है, परन्तु परम विश्राम नहीं। परमात्मा के सान्निध्य में पहुंच जाना ही विश्राम है। और "मैं" के सान्निध्य में आ जाना ही विकलता एवं तनाव। "मैं" यदि पूर्ण शून्य हो जाय तो परम विश्राम उपलब्ध हो जाता है। परम विश्राम का ही नाम मोक्ष है। सुषुप्ति में एक प्राकृतिक आवश्यकता के निमित्त अहंकार भाव से अल्पकाल को मुक्ति मिलती है। जीवन के लिए यह अपरिहार्य आवश्यकता है, क्योंकि किसी भी दशा की अशांत उत्तेजना पूर्ण स्थिति को बहुत देर तक नहीं रखा जा सकता। यही इस बात का प्रमाण है कि जो दशा सदा न रह सके वह स्वाभाविक नहीं है। वह आती है और जाती है। जो स्वभाव है वह सदा बना रहता है। वह आता और जाता नहीं। अधिक से अधिक वह आवृत हो सकता है। अर्थात् जब हम अहं भाव से भरे होते हैं तब हमारा ब्रह्म भाव नष्ट नहीं हो जाता है, अपितु मात्र ढक जाता है। जैसे ही "मैं" का तनाव और अशांति सीमा को लांघ जाता है वैसे ही उस ब्रह्म भाव में पुनः अनिवार्य रूपेण हमें विश्रांति लेनी होती है। यह विश्रांति बलात् और अनिवार्य है। इसे हम स्वेच्छा से नहीं लेते हैं। यदि हम स्वेच्छा से "मैं" भाव से विश्रांति ले सकें तो अभूतपूर्व क्रांति घटित हो जाती है। "मैं" भाव से स्वेच्छा से विश्रांति लेने का सूत्र प्रेम है। क्योंकि प्रेम की दशा अकेली दशा है जब हमारी सत्ता तो होती है, किन्तु उस सत्ता पर "मैं" भाव आरोपित नहीं होता। सुषुप्ति बलात् विश्राम है, प्रेम स्वेच्छित। इसीलिए प्रेम समाधि बन जाता है।

प्रेम क्या है ? प्रेम उस भाव दशा का नाम है, जब विश्व सत्ता से पृथकत्व का भाव तिरोहित हो जाता है। समग्र की सत्ता में स्वयं की सत्ता का मिलन ही प्रेम है। यह सत्य भी है, क्योंकि वस्तुतः सत्ता एक है और जो भी है उसमें है। यह प्रेम

प्रत्येक में सहज ही स्फूर्त होता है, लेकिन अज्ञान के कारण हम उसे राग में परिणत कर लेते हैं। प्रेम की स्फुर्णा को अहंकार पकड़ लेता है और वह स्वयं और समग्र की सत्ता के बीच सम्मिलन न होकर दो व्यक्तियों के बीच सीमित संबंध हो जाता है। असीम होकर जो प्रेम है सीमित होकर वही राग है। राग बंधन बन जाता है, जबकि प्रेम मुक्ति है। असल में जहां सीमा है वहीं बंधन हैं। राग का बुरा होना उसमें निहित प्रेम के कारण नहीं वरन् उस पर आरोपित सीमा के कारण है। राग असीम हो जाय तो वह प्रेम बन जाता है, विराग हो जाता है। ध्यान रखने की बात यही है कि प्रेम तो हो परन्तु उसमें कोई सीमा न हो। जहां सीमा आने लगे वहीं सचेत हो जाना आवश्यक है। वही सीमा संसार है। इस भांति क्रमशः सीमाओं को तोड़ते हुए प्रेम की ऊर्जा का विस्तार ही साधना है। जिस घड़ी उस जगह पहुंचना हो जाता है जहां सीमा नहीं है, तो जानना चाहिए कि परमात्मा पर पहुंचना हो गया। इसके विपरीत यदि प्रेम सीमित होता चला जाये और अंततः अहम् अणु पर ही केंद्रित हो जाय तो जानना चाहिए कि परमात्मा से जितनी ज्यादा पृथकता हो सकती है वह हो चुकी है। यह अवस्था-राग की चरम अवस्था है, जो कि अत्यन्त दुख, परतंत्रता और संताप को उत्पन्न करती है, इसके विपरीत प्रेम के असीम होने की चित्त दशा है जो जीवन को अनन्त आलोक और आनंद से परिपूरित कर देती है।

२ सत्योपलब्धि का मार्ग विचार नहीं, ध्यान

महर्षि रमण से किसी ने पूछा सत्य को जानने के लिए मैं क्या सीखूं? श्री रमण ने कहा जो जानते हो उसे भूल जाओ। यह उत्तर बहुत अर्थपूर्ण है। मनुष्य का मन बाहर से संस्कार और शिक्षाएं लेकर एक कारागृह बन जाता है। बाह्य प्रभावों की धूल में दबकर उसकी स्वयं की दर्पण जैसी निर्मलता ढक जाती है। जैसे किसी झील पर काई आवृत्त हो जाय और सूर्य या चंद्रमा का प्रतिबिम्ब उसमें न बन सके ऐसे ही मन भी बाहर के सीखे गए ज्ञान से इतना आवृत्त हो जाता है कि सत्य का प्रतिफलन उसमें नहीं हो पाता। ऐसे मन के द्वार और झरोखे बन्द हो जाते हैं। वह अपनी ही क्षुद्रता में सीमित हो जाता है, और विराट के संपर्क से वंचित। इस भांति बन्द (Closed) मन ही बंधन है। सत्य के सागर में जिन्हें संचरण करना हैं, तो उन्हें मन को सीखे हुए किसी भी खूंटे से बांधने का कोई उपाय नहीं है। तट से बंधे होना और साथ ही सागर में प्रवेश कैसे संभव है? एक पुरानी कथा है—एक सन्यासी सूर्य निकलनेके पूर्वही नदी में स्नान

करने उतरा, अभी अंधियारा था और भोर के अंतिम तारे डूबते थे। एक व्यक्ति नाव पर बैठकर पतवार चलाता था, किन्तु नाव आगे नहीं बढ़ती थी। अंधेरे के कारण उसे वह सांकल नहीं दिखती थी जिससे नाव बंधी हुई थी। उसने चिल्लाके सन्यासी से पूछा कि स्वामीजी इस नाव को क्या हो गया है। उस सन्यासी ने कहा मित्र पहले खूंटे से बंधी उसकी सांकल को तो खोलो। मनुष्य जो भी बाहर से सीख लेता है वह सीखा हुआ ज्ञान ही खूंटों की भांति उसके चित्त की नाव को अपने से बांध लेता है और आत्मा के सागर में उसका प्रवेश संभव नहीं हो पाता और यह बन्धन उसे सरलता से दिखाई भी नहीं पड़ता। जिसे परमात्मा के ज्ञान को पाना हो उसे बाहर से सीखे गए अपने ज्ञान को छोड़ देना होगा। इस अवस्था को दिव्य अज्ञान (Divine Ignorance) कह सकते हैं। इसे साध लेने से बड़ी और कोई साधना नहीं है। कुछ भी जानने का भाव अहंकार को पुष्ट करता है। इसीलिए उपनिषद् के ऋषियों ने कहा है कि जो कहे कि मैं जानता हूं तो जानना कि, वह नहीं जानता। जो जानते हैं उनका तो "मैं" खो जाता है। बाहर से आया हुआ ज्ञान "मैं" को भरता है; भीतर से जागा हुआ ज्ञान उसे बहा ले जाता है। ज्ञान को पाने की विधि है कि सब ज्ञान को छोड़ दो। "मैं" को शून्य होने दो और चित्त को मौन। उस मौन और शून्यता में ही उसके दर्शन होते हैं जो कि सत्य है।

ज्ञान नहीं विचार सीखे जा सकते हैं। विचारों के संग्रह से ही ज्ञान का भ्रम पैदा हो जाता है। विचार कम हो सकते है; विचार ज्यादा भी हो सकते हैं। ज्ञान न तो कम होता न ज्यांदा होता। या तो ज्ञान होता है या अज्ञान होता है। यह भी स्मरण रहे कि विचार अज्ञान का अंग है। केवल अज्ञानी ही विचार करता है। ज्ञानी विचारता नहीं, देखता है। जिसके आंख है उसे दिखाई पड़ता है। वह सोचता नहीं कि द्वार कहा हैं, वह तो द्वार को देखता है। जिसके पास आंख नहीं वह सोचता है और टटोलता है, विचार टटोलना मात्र है। वह आंख का नहीं अन्धे होने का प्रमाण है। बुद्ध, महावीर या ईसा विचारक नहीं हैं। हमने सदा ही उन्हें दृष्टा कहा है। वे जो भी जानते हैं वह उनके चिन्तन का परिणाम नहीं उनके दर्शन की प्रतीति है। वे जो भी करते हैं वह भी विचार का फल नहीं, उनकी अन्तर्दृष्टि की सहज निष्पत्ति है। इस सत्य को समझना बहुत आवश्यक है। विचारों का संग्रह कहीं भी नहीं ले जाता। सभी प्रकार के संग्रह दरिद्रता को मिटाते नहीं दबाते हैं। इसीलिए जो सर्वाधिक दरिद्र होते हैं संग्रह की इच्छा भी उनकी सर्वाधिक होती है। डायोजनीज ने

सिकन्दर को कहा था "मैं इतना समृद्ध हूं कि मैं कुछ भी संग्रह नहीं करता। और तेरी दरिद्रता का अंत नहीं क्योंकि इस पूरी पृथ्वी के साम्राज्य को पा लेने पर भी उसे नष्ट नहीं कर सकेगा। "इसीलिए जब सम्राटों को संग्रह की छिपी दरिद्रता के दर्शन हुए हैं तो उन्होंने दरिद्रता में छिपे साम्राज्य को स्वीकार कर लिया है। क्या मनुष्य का इतिहास ऐसे भिखारियों से परिचित नहीं कि, सम्राट जिनसे बड़े कभी नहीं होते। जो धन संग्रह के संबंध में सत्य है वह सभी प्रकार के संग्रहों के लिए भी सत्य है। विचार संग्रह भी उसका अपवाद नहीं। बाह्य संपत्ति के संग्रह से जो धनी है वह यदि दरिद्र है तो शास्त्रों के शब्दों से जो ज्ञानी है वह भी अज्ञानी ही है। शास्त्र से नहीं जब स्वयं से और शब्द से नहीं, जब अन्तस् से आलोक मिलता है तभी ज्ञान का अविर्भाव होता है।

ज्ञान का जन्म ध्यान से होता है। और ध्यान का अर्थ है विचार छोड़कर चेतना में प्रतिष्ठित हो जाना। विचारों के प्रवाह का नाम मन है। और जो इन विचारों के प्रवाह को देखता है उसका नाम चेतना है। विचार विषय है चेतना विषयी। विचार दृश्य है चेतना दृष्टा। विचार जाने जाते हैं चेतना जानती है। विचार बाहर से आते हैं चेतना भीतर है। विचार पर है चेतना स्व है। विचारों को छोड़ना है और चेतना में ठहरना है। सब धर्मों की साधना का सार यही है। विचार प्रवाह के सम्यक्– निरीक्षण से दूसरे शब्दों में तटस्थ साक्षीभाव से मात्र उन्हें देखने से वे क्रमशः क्षीण हो जाते हैं। जैसे कोई बिल्ली चूहे को पकड़ती हो तो पकड़ने के पूर्व उसकी तैयारी पर ध्यान दें, कितनी सजग और कितनी शान्त कितनी शिथिल और कितनी तैयार ! ऐसे ही स्वयं के भीतर विचार को पकड़ने के लिए होना पड़ता है। जैसे ही कोई विचार उठे बिल्ली की भांति झपटें और उसे पकड़ लें, उसे उल्टाएं, पल्टाएं और उसका निरीक्षण करें। किन्तु उसे सोचें नहीं, मात्र देखें। और तब पाया जाता है कि वह देखते देखते ही वाष्पीभूत हो गया है। हाथ खाली और विचार विलीन हो जाता है। फिर शान्त और सजग रहें। दूसरा विचार आयगा उसके साथ भी यही करना है। तीसरा आयगा उसके साथ भी यही। यह ध्यान का अभ्यास है। जैसे जैसे अभ्यास गहरा होता है, वैसे वैसे बिल्ली बैठी रह जाती है और चूहे विलीन हो जाते हैं। चूहे जैसे बिल्ली से डरते हैं विचार वैसे ही ध्यान से डरते हैं। बिल्ली जैसे चूहों की मृत्यु है ध्यान वैसे ही विचारों की मृत्यु है।

विचार की मृत्यु पर सत्य का दर्शन होता है। तब मात्र वही शेष रह जाता

है जो "है"। वह सत्य है। वही परमात्मा है। उसे जाननें में ही मुक्ति है और दुःख एवं अंधकार का अतिक्रमण है।

३ नव--संस्कृति का निर्माण

मनष्य के व्यक्तित्व में सबसे बड़ा अन्तर्द्वन्द्व उस मान्यता से पैदा होता है कि उसका शरीर और उसकी आत्मा विरोधी सत्य हैं। यह स्वीकृति आधारभूत रूप से मनुष्य को विभाजित कर देती है। फिर स्वभावतः इन दोनों विभाजित खेपों में संघर्ष और कलह का प्रारम्भ हो जाता है यह फिर न केवल मनुष्य के व्यक्तित्व में वरन् समाज के व्यक्तित्व में प्रतिफलित होता है। इसी के आधार पर अब तक की सारी संस्कृतियां खंड संस्कृतियां हैं। अखंड और समग्र जीवन को समाविष्ट करने वाली संस्कृति का अभी जन्म नहीं हुआ है। जब तक शरीर और आत्मा, पदार्थ और परमात्मा, संसार और मोक्ष के बीच विरोध की जगह सामंजस्य और समस्वरता स्थापित नहीं होती तब तक यह हो भी नहीं सकता। या तो ऐसी विचार दृष्टियां रही हैं जो आत्मा के निषेध पर शरीर मात्र को ही स्वीकार करती हैं या फिर ऐसी परम्पराएं जो शरीर के निषेध पर मात्र आत्मा की सत्ता मानती हैं। एक विचार वर्ग परमात्मा को असत्य मानता है और दूसरा संसार को माया और भ्रम। ये दोनों ही पूर्ण मनुष्य को स्वीकार करने से भय खाते हैं। वे उसी अंश को स्वीकार करते हैं जिसे कि पूर्व से ही स्वीकार करने की उन्होंने धारणा बना रक्खी है। जैसे कि कोई वस्त्र पहले बनालें और फिर मनुष्य को काट छांट कर वस्त्र पहनाने की चेष्टा करे ऐसी ही उनकी चेष्टा है। धारणाएं पहले तय कर ली जाती हैं और फिर बाद में उन्हें मनुष्य को पहना दिया जाता है जबकि विवेकपूर्ण यही होगा कि हम पहले मनुष्य को उसकी समग्रता में विचार करें और फिर कोई जीवन दर्शन बनाएं। विचार संख्या विचार धाराएं महत्वपूर्ण नहीं – महत्वपूर्ण मनुष्य की यथार्थता है। धार्मिक और भौतिकवादी दोनों ही पूर्व पक्षों को छोड़कर यदि मनष्य को देखा जाय तो न तो वह मात्र शरीर ही है और न मात्र आत्मा ही। वह तो अद्वय इकाई है। शरीर और आत्मा हमारे विचार के विभाजन हैं। मनुष्य तो अखंड हैं वस्तुतः शरीर और आत्मा का जहां मिलन है वहीं मनुष्य की उत्पत्ति है। वे आत्माएं जो किसी अशरीरी मोक्ष में हों उन्हें हम मनुष्य नहीं कह सकते और न ही उन देहों को जो आत्म रहित हैं। मनुष्य आत्मा और शरीर का संगम है। इसलिए उसके सम्बन्ध में किसी भी एक पक्ष को दूसरे के निषेध पर स्वीकार कर लेना घातक

ही सिद्ध होता है और ऐसी स्वीकृति से बनी हुई संस्कृति अधूरी, पंगु एवं एकांगी है। या तो सामान्य दैहिक वासनाओं का जीवन ही उसके लिए इति श्री हो जाती है। काम ही फिर उसके लिए केन्द्र हो जाता है। फिर उसके लिए और किसी चीज की सत्ता नहीं होती, स्वभावतः ऐसी दृष्टि शान्ति सत्य और उदात्त जीवन की ओर ऊर्ध्वगमन की सब संभावनाएं छीन लेती है। मनुष्य एक डबरे में बन्द हो जाता है और सागर तक पहुंचने की गति, आकर्षण और अभीप्सा सभी खो जाते हैं। दूसरी ओर जो पदार्थ को अस्वीकार कर देते हैं वे भी शक्तिहीन हो जाते हैं और भूमि से उनकी जड़े टूट जाती हैं। उनका होना न होने की भांति हो जाता है। इस तरह के दोनों विकल्प अनुभव किए गए हैं और उनकी दोष-पूर्ण स्थिति भी प्रत्यक्ष हो गई है। जिन संस्कृतियों ने जड़ को सब कुछ माना उनके पास सम्पदा आई। शक्ति आई लेकिन साथ ही आशांति और विनाश भी। तथा जिनने जड़ को कुछ भी न माना वे सम्पदाशून्य, शक्तिरिक्त, दास और दरिद्र होते देखे गए। समय आ गया कि इस भूल के प्रति हम सचेत हों और जड़तावादी या ब्रह्म वादी की अतियों से बचें। अति सदा वर्जित है और अनिवार्य रूपेण अति का अनुगमन असत्य में हो जाता है। सत्य सदा मध्य में है क्योंकि सत्य सदा सन्तुलन और संगति में है।

शरीर और आत्मा में से किसी एक को नहीं चुनना है। पदार्थ और परमात्मा में से किसी एक के पक्ष में खड़ा नहीं होना है। क्योंकि जो जानते हैं वे विश्व-सत्ता में दो का अनुभव ही नहीं करते हैं। जो जड़ की भांति प्रतीत हो रहा है वह भी मूलतः और अन्ततः वही है जो कि चेतन्य की तरह अनुभव में आता है। विश्वसत्ता एक है। उसकी अभिव्यक्तियां ही भिन्न हैं। जो दृश्य परमात्मा है वही संसार है और जो अदृश्य संसार है वही परमात्मा है। यदि हम जड़ सत्ता का आत्यन्तिक अनुसंधान करें तो वह अदृश्य में विलीन हो जाती है। विज्ञान ने यह किया और परमाणु के बाद वह जिन सत्ता-कणों पर पहुंचा है वे अब पदार्थ नहीं हैं, न ही वे दृश्य हैं वरन् अदृश्य ऊर्जा मात्र में परिणत हो गए हैं। ऐसे ही जिन्होंने चेतना का आत्यन्तिक अनुसंधान किया है उन्होंने पाया कि चेतना ही दृश्य हो जाती है अर्थात् अदृश्य आत्मशक्ति का भी साक्षात्कार हो जाता है और वह साक्षात्कार इतना प्रगाढ़ होता है कि उसके समक्ष पदार्थ ही असत्तावान मालूम होने लगता है। इस सत्य को ध्यान में रक्खें तो ज्ञात होगा कि जो दृश्य है वह अदृश्य ही है और जो अदृश्य है वह भी दृश्य है। संसार और मोक्ष भिन्न नहीं अभिन्न हैं। अज्ञान में जो संसार मालूम होता है ज्ञान में वही मोक्ष

हो जाता है। अंधेरे में जो पदार्थ मालूम होता है आलोक में वही परमात्मा में परिणत हो जाता है। दोनों के बीच एकता है और इस एकता का अनुभव केवल वही कर पाते हैं जो दोनों के बीच अतिवादी द्वन्द्व से नहीं वरन् दोनोंके मध्य सन्तुलन से प्रारंभ करते हैं।

हमने अतियों में जीकर देख लिया है। वह प्रयोग किसी भी दिशा में सफल नहीं हुआ। अब अन-अति का प्रयोग करने का समय आ गया है। मनुष्य को उसकी पूर्णता में स्वीकार कर संस्कृति का निर्माण करना है।

४ मनुष्य स्वरूपतः शुभ या अशुभ ?

मनुष्य स्वरूपतः शुभ है या अशुभ ? जो उसे स्वरूपतः अशुभ मान लेते हैं उनकी दृष्टि अत्यन्त निराशाजनक और भ्रान्त हैं। क्योंकि जो स्वरूपतः अशुभ हो उसके शुभ की संभावना समाप्त हो जाती है। स्वरूप का अर्थ ही यही है कि उसे छोड़ा नहीं जा सकता है। जो सदा अनिवार्य रूप से साथ है वही स्वरूप है। यदि मनुष्य स्वरूप से ही अशुभ हो तब तो उसे शुभ का विचार भी नहीं उठ सकता। इसलिए हम मनुष्य को स्वरूपतः शुभ मानते हैं। अशुभ आच्छादन है। वह दुर्घटना मात्र है। जैसे सूर्य अपने ही द्वारा पैदा की हुई बदलियों में छिप जाता है, वैसे ही मनुष्य की चेतना में जो शुभ है वह उसकी अंतर्निहित स्वतंत्रता के दुरुपयोग से आच्छादित हो जाता है। चेतना स्वरूपतः शुभ और स्वतंत्र है। स्वतंत्रता के ही कारण अशुभ भी चुना जा सकता है। तब एक क्षण को अशुभ आच्छादित कर लेता है। जिस क्षण अशुभ हो रहा है उसी क्षण वह आच्छादन रहता है। उसके बाद आच्छादन तो नहीं मात्र स्मृति रह जाती है। शुद्ध वर्तमान में स्मृति शून्य चेतना सदा ही शुभ में प्रतिष्ठित है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी शुद्ध वर्तमान सत्ता में शुभ और निर्दोष हैं। जो व्यक्ति सोचता है कि मुझसे पाप हुआ उसे भी समझना आवश्यक है कि पाप उसकी अतीत स्मृति है। क्योंकि जो हो गया है उसका ही चित्त सिंहावलोकन कर पाता है। जो है यदि चित्त उसके प्रति सजग और जागरूक हो तो चित्त मिट जाता है और मात्र चेतना रह जाती है। यह चेतना नित्य शुभ है। स्मृति और कामना अतीत और भविष्य यही चेतना के बंधन हैं। इनसे जो मुक्त है वही स्वरूप में पहुंच पाता है। स्वरूप सदा निर्दोष है।

यह स्मरणीय कि मैं स्वरूपतः शुभ हूं, यह प्रतीत और प्रत्यय कि मैं सदा निर्दोष हूं; शुभ और निर्दोष जीवन के लिए मुख्य आधार है। कोई यह न सोचे

कि इस भांति तो अहंमता प्रगाढ़ होगी क्योंकि इस प्रत्यय में मेरी ही नहीं समस्त चेतनाओं की निर्दोषता समाविष्ट है। प्रत्येक चेतना ही अपनी निज सत्ता में शुभ है। यह बोध स्वयं तथा सर्व के लिए सद्भाव उत्पन्न करता है। स्वयं को पापी मानना पाप करने से ज्यादा बुरी बात है। क्यों ? क्योंकि जो निरन्तर यह भाव करता है कि मैं पापी हूं। वह अपने ही भाव में सम्मोहित हो जाता है। कूए ने बड़े वैज्ञानिक आधारों पर यह सुप्रतिष्ठित कर दिया है कि हम जो भाव निरंतर करते हैं क्रमशः हम वैसे ही होते जाते हैं। बुद्ध ने तो कहा ही था, "कि विचार ही व्यक्तित्व बन जाता है। विचार और भाव में जो तरंगे उठती हैं वे ही धीरे धीरे हमारा व्यवहार बन जाती हैं। जो स्वयं के पाप, पतित, और अपराधी होने के भाव करता रहता है वह उन्हीं में जकड़ जाता है। फिर जो स्वयं को पापी समझता है वह शेष लोगों को भी पापी समझता है। उसके सोचने के मापदंड ही वे ही हो जाते हैं। अपने भीतर पाप और अपने बाहर पाप देखकर हताशा अपरिहार्य है। और हताशा से बड़ा कोई पाप नहीं है। यदि पाप एक सत्य दिखाई पड़ने लगे तो क्रमशः परमात्मा एक असत्य दिखाई पड़ने लगता है। पाप से ऊपर उठने की संभावना ही परमात्मा के होने का प्रमाण है। उस संभावना से ही जीवन के अंधकार में आलोक की किरण फूटती है।

यह भी स्मरणीय है कि पाप के ऊपर हम तभी उठ सकते हैं कि हमारे भीतर निरन्तर ही पाप के ऊपर कुछ हो। अर्थात् यदि हमारी चेतना में पाप से अस्पर्शित कुछ भी नहीं है तो फिर पाप के बाहर जाने का कुछ उपाय ही नहीं रह जाता। फिर तो पाप के ऊपर वैसे ही असम्भव है जैसे स्वयं के जूते के बन्धों को पकड़कर स्वयं को उठाने का प्रयास। और यदि चेतना सर्वांशतः पापी हो जाय तो उसे पाप का बोध भी नहीं रह जायगा। जिसे पाप का बोध होता है वह निरंतर पाप के बाहर है। वह बोध ही हमारी शक्ति, सुरक्षा और परमात्मा तक पहुंचने का आश्वासन है। पाप आते हैं और चले जाते हैं। पुण्य भी आते हैं और चले जाते हैं। पाप भी कम हैं पुण्य भी कम है। किन्तु जिस पर वे आते हैं वह निरन्तर ही बना रहता है। वह यदि पाप से ग्रसित हो जाय तो फिर पुण्य नहीं आ सकता और यदि पुण्य से ग्रसित हो जाय तो पाप नहीं आ सकता। वह किसी से भी ग्रसित नहीं होता। वह सदैव अस्पर्षित है। इस साक्षी का, इस आत्मा का संकल्पपूर्वक स्मरण समस्त कर्मों के बीच उसका भान सब कुछ करते हुए, सोते, उठते बैठते उस पर ध्यान क्रमशः व्यक्ति को अपने स्वरूपतः निर्दोष

और शुभ होने का अवबोध करा देता है। इस बोध की दशा में ही प्रकृति का अतिक्रमण एवं परमात्मा का अनुभव होता है।

५ परिग्रह या परमात्मा ?

मनुष्य के चित्त विश्लेषण से जो केन्द्रीय तत्व उपलब्ध होता है वह है परिग्रह की दौड़। चाहे यश हो चाहे धन, चाहे ज्ञान हो लेकिन प्रत्येक स्थिति में मनुष्य किसी न किसी भांति अपने को भरना चाहता है और संग्रह करता है। संग्रह न हो तो वह स्वयं को स्वत्वहीन अनुभव करता है। और संग्रह हो तो उसे लगता है कि मैं भी कुछ हूं। संग्रह, शक्ति देता मालूम पड़ता है। और संग्रह स्व या अहं को भी निर्मित करता है। इसलिए जितना संग्रह उतनी शक्ति और उतना अहंकार। इस दौड़ का क्या मूलभूत कारण है उसे बिना समझे जो इस दौड़ के विरोध में दौड़ने लगते हैं वे ऊपर से भले ही अपरिग्रही दिखायी पड़ें अन्तस् में उनके भी परिग्रह ही केन्द्र होता है। जो व्यक्ति स्वर्ग के लिए बैकुण्ठ के लिए या बहिस्त के लिए सम्पत्ति और संग्रह छोड़ देते हैं उनका छोड़ना कोई वास्तविक छोड़ना नहीं है। क्योंकि जहां भी कुछ पाने की आकांक्षा है वहां परिग्रह है। फिर चाहे यह आकांक्षा परमात्मा के लिए हो या चाहे मोक्ष के लिए चाहे निर्वाण के लिए। वासना परिग्रह की आत्मा है। लोभ ही उसका स्वांस प्रस्वांस है। इस भांति धन को जो धर्म या पुण्य के लिए छोड़ते हैं वे भी धन के छोड़ने से किसी और बड़े धन के पाने की अभिलाषा रखते हैं। यही कारण है कि यदि हम भिन्न भिन्न धर्मों द्वारा कल्पित स्वर्ग पर विचार करें तो उसमें हमें मनुष्य के लोभ का ही विस्तार उपलब्ध होगा। कामनाओं और वासनाओं ने ही उसका सृजन किया है। जो सुख और ऐन्द्रिक तृप्ति इस लोक में चाही जाती है उसकी ही पूर्ति के वहां और भी सुलभ साधन प्रस्तुत किये गये हैं। कामधेनु है या कल्पवृक्ष, चिरयौवना अप्सराएं हैं या हूरें, शराब की नदियां हैं और काम भोग के सभी उपकरण हैं। दान पुण्य और त्याग से यदि यही सब उपलब्ध करना है तो ऐसे दान, पुण्य, त्याग को आत्म वंचना ही मानना होगा। यह वासना का ही विकृत रूप है। और परमात्मा के नाम से परिग्रह की ही तृप्ति है। यह भी हो सकता है, कि कोई न स्वर्ग चाहता है, न अन्य तरह की कामनापूर्ति लेकिन इन सबसे मुक्ति चाहता हो। किंतु बहुत गहरे में देखने पर यह भी चाह का अत्यंतिक रूप है। वासनाओं से यदि दुःख अनुभव होता है तो उनसे मुक्ति चाहने में भी सुख की वासना ही उपस्थित है। वस्तुतः त्याग, किसी भी भांति की

इच्छा के साथ संभव नहीं है।

परिग्रह की इतनी गहरी दौड़ क्यों है। उसे छोड़ते हैं तो भी वह उपस्थित रहता है। त्याग में भी वह खड़ा है, भोग में भी। तब क्या उससे छुटकारा संभव नहीं है? क्योंकि जो उससे छूटने की कोशिश करते हैं वे छुयें को तो छोड़ते अनुभव होते हैं लेकिन खाई में गिरते दिखायी पड़ते हैं। उनका त्याग योग का ही शीर्षासन करता हुआ रूप अनुभव होता है। गृहस्थ और तथाकथित संन्यासी में कोई आधारभूत अन्तर नहीं होता। गृहस्थ जिस ओर भागता है संन्यासी ठीक उसके विपरीत भागता हुआ मालूम होता है इससे संन्यासी गृहस्थ से भिन्न है ऐसी भ्रांति पैदा होती है, लेकिन विपरीत दिशाओं में भागते हुए भी उनकी मूल तृष्णा में कोई भेद नहीं है। विपरीत तथाकथित त्यागवादी और भी अधिक काम और लोभ से ग्रसित मालूम होंगे क्योंकि क्षणिक लौकिक सुख उन्हें तृप्त नहीं कर पाते उनकी अभीप्सा तो शाश्वत सुख के लिए है। और यदि उस शाश्वत सुख के लिए वे इन क्षणिक सुखों को लात मार देते हों तो न तो यह अलोभ है न त्याग, न अपरिग्रह। यह तो किसी भावी लाभ की आकांक्षा में सम्पत्ति विनियोग (इन्वेस्ट-मेन्ट) है।

साधारणतः परिग्रह को छोड़ना कठिन है, जब तक कि उसके उद्भव के मूल कारण को न जाना जा सके। मूल कारण है स्वयं से अपरिचित होना। इस अपरिचित और अज्ञान से आत्म अविश्वास उत्पन्न होता है। आत्म अविश्वास से असुरक्षा अनुभव होती है। असुरक्षा की भावना से बचने के लिए परिग्रह की दौड़ प्रारम्भ होती है। स्वयं का बोध न हो तो सम्पत्ति और संग्रह से सुरक्षित होने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह जाता। स्वयं का होना है अज्ञात। वस्तुएं हैं ज्ञात। जो ज्ञात है वह उपलब्ध करना सरल है उसे जीतना आसान है। और उसके द्वारा जो अभाव भीतर काटता है उससे भ्रान्ति ही सही लेकिन छुटकारा मिलता अनुभव होता है। स्वयं के भीतर देखें तो न कुछ मालूम होते हैं, वहां तो एक शून्य है, गहन रिक्तता है, यह रिक्तता भरे बिना चैन नहीं। किसी न किसी भांति इसे भरना ही है। अभाव के साथ जिया नहीं जा सकता। रिक्तता घबड़ाती है और मृत्यु मालूम होती है। उससे बचने के लिए ही परिग्रह की शरण लेनी पड़ती है। सम्पत्ति, यश, पद, प्रतिष्ठा, इन सबमें उस अभाव से पलायन ही हम खोजते हैं लेकिन अभाव है आन्तरिक और सम्पत्ति है बाह्य। सो सम्पत्ति कितनी ही इकट्ठी करते जांय अभाव उससे नष्ट नहीं होता है। भीतर का अभाव भीतर के भाव से ही नष्ट होगा। बाहर की कोई भी उपलब्धि उसे

भरने में केवल इस कारण ही असमर्थ है कि वह बाहर की है। यही कारण है कि परिग्रह की दौड़ और और के पागलपन से पीड़ित रहती है। जो मिल जाता है वह काम करता हुआ मालूम नहीं होता। अभाव वैसे ही का वैसा मालूम होता है। कितना ही अभाव को भोजन दें उसका पेट भरता नहीं। वह मुंह बाये ही खड़ा रहता है। स्वभावतः बुद्धि कहती है और दो, इतने से नहीं हुआ तो और करो और इस भांति एक अन्तहीन चक्कर चलता है। जिसमें हर पड़ाव पर लिखा होता है और आगे और ऐसा कोई पड़ाव नहीं है जहां यह नहीं लिखा है।

परिग्रह की वृत्ति स्वयं की रिक्तता से पैदा होती हैं, तो उचित है कि इस रिक्तता को हम जानें और पहचानें। रिक्तता के ज्ञान के लिए रिक्तता में जीना आवश्यक है। न तो उसे भरें और न उससे भागें। वरन् उसमें कूद जावें। ताकि उसका पूरा अनुभव हो सके। यही है योग। रिक्तता में छलांग समाधि है, शून्य में जीना साधना है। जो व्यक्ति स्वयं की इस शून्यता में प्रवेश का साहस करता है वह प्रविष्ट होकर पाता है कि जो रिक्तता अनुभव होती थी वही आत्मा है और दूर से जो शून्य जैसा भासता था वही परम सत्ता है। यह अनुभव अभाव से मुक्त कर देता है। परमात्मा उपलब्ध हो, परम सत्ता का साक्षात्कार हो तो परिग्रह की वृत्ति सहज ही विलीन हो जाती है। जैसे जाग जाने पर स्वप्न नहीं है वैसे ही स्वयं में आने पर बाहर की कोई दौड़ शेष नहीं रह जाती, जीवन की दो ही दिशाएं हैं परिग्रह या परमात्मा। स्वयं का अभाव है दोनों दिशाओं का प्रारम्भ बिंदु। उससे भागिये तो परिग्रह की गति शुरु होती है उसमें डूबिये तो परमात्मा उपलब्ध होता है।

६. मनुष्य की चिंता, समस्या और समाधान

मनुष्य में और पशु में जन्म और मृत्यु की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। न तो मनुष्य को ज्ञात है कि वह क्यों पैदा होता है और क्यों मर जाता है और न पशुओं को। लेकिन मनुष्य को यह ज्ञात है कि वह पैदा होता है और मरता है। यह ज्ञान पशु को नहीं है। और यह ज्ञान बहुत बड़ा भेद पैदा करता है। इसके कारण ही मनुष्य पशुओं के बीच होते हुए भी पशुओं से भिन्न हो जाता है। वह जीवन पर विचार करने लगता है। जीवन में अर्थ और प्रयोजन खोजने लगता है। वह मात्र होने से तृप्त नहीं होता वरन् सप्रयोजन और सार्थक रूप से होना चाहता है। इससे ही जीवन उसे जीना ही न होकर एक समस्या और उसके समाधान की खोज बन जाता है। स्वाभाविक है कि इससे तनाव अशांति और चिंता पैदा हो। कोई पशु न तो चिंतित है न अशांत।

मनुष्य अकेला प्राणी है जिसमें ऊब प्रगट होती है । और वही अकेला है जो कि हंसता है और रोता है । न तो किसी और पशु को किसी भी भांति उबाया ही जा सकता है न हंसाया ही । पशु जीते हैं सहज और सरल । कोई समस्या वहां नहीं है । भोजन, छाया या इस तरह की तात्कालिक खोजें हैं लेकिन जीवन का कोई अनुसंधान नहीं है । न कोई अतीत की स्मृति है और न भविष्य का विचार । वर्तमान ही सब कुछ है । और वर्तमान का यह बोध भी हमारे विचार में है क्योंकि जिनके लिए अतीत और भविष्य नहीं है उनके लिए वर्तमान भी नहीं है । समय या काल मानवीय घटना है और इसीलिए जो भी व्यक्ति मानवीय चिंताओं से मुक्त होना चाहता है वह किसी न किसी रूप में समय को भूलने या मिटाने की चेष्टा करता है । भूलने के उपाय हैं निद्रा, नशा, सेक्स, या इसी तरह की और मूर्छाएं । मिटाने का उपाय है समाधि । लेकिन जब तक चित्त समय में है तब तक वह चिंता के बाहर नहीं होता है । समय ही चिंता है । उसका बोध भार है । पशु निर्भार, निर्बोध ज्ञात होते हैं ।

मनुष्य की यह विशेष स्थिति कि वह सृष्टि का अंग होते हुए भी सामान्य रूप से अन्य अंगों की भांति अचेत अंग नहीं है उसके जीवन में असामान्य और असाधारण उलझाव खड़े कर देती है । जीवन भर किसी न किसी रूप में इस दबावग्रस्त स्थिति के अतिक्रमण की खोज चलती है । मनुष्य सृष्टि का अचेतन अंग तो नहीं हो पाता । होश में रहते यह असंभव है । वह पशु और पौधों के निश्चित जीवन को नहीं पा सकता है । उसकी चेतना ही इन द्वारों को वर्जित किये हुए है । फिर अतिक्रमण का मार्ग एक ही है कि वह किसी भांति सृष्टा हो जाय । सृष्टि के साथ सम्मिलन की भूमिका है अचेतना और सृष्ठा के साथ सम्मिलन की संभावना है सम्पूर्ण चेतना । मनुष्य है मध्य में । न वह पूरा अचेतन है और न पूरा चेतन । पशुओं को वह पीछे छोड़ आया है और प्रभु होना अभी दूर है । चेतना जितनी आलोकित होती जाय और अचेतना का अंधकार जितना दूर हो उतना ही वह परमात्मा के निकट पहुंचता है । प्रकृति और परमात्मा अचेतना और चेतना यही दो ध्रुव है जिनके मध्य पतन है या प्रगति है । दोनों ही ध्रुव मनुष्य को खींचते है। और इससे ही उसमें संताप और चिंता का जन्म होता है । छोटे मोटे रूप में भी यदि वह सृष्टा बन जाता है तो आनन्द अनुभव करता है । काव्य हो या चित्र या मूर्ति इनका निर्माता होकर भी वह सृष्टा के जगत का अंशभूत भागीदार हो पाता है । विज्ञान के अविष्कार भी उसकी चेतना को इसी बिंदु पर ले आते हैं । मां या पिता को संतति को पाकर जो खुशी है वह भी सृष्टा होने की खुशी है । इसी कारण जो किसी भी भांति का सृजन नहीं कर पाते उनकी पीड़ा अनन्तगुनी बढ़ जाती है । सृजन जीवन में न हो तो किसी भी भांति की

आनन्द अनुभूति कठिन है। एक विकल्प और है : वह है विनाश का। उससे भी मनुष्य अचेतन सृष्टि के ऊपर होने का अनुभव करता है। हत्यारे, हत्या करके स्वयं को मिटाने की क्षमता का अनुभव करते हैं। वह भी बनाने की क्षमता का दूसरा पहलू है। तैमूर लंग, हिटलर या स्टेलिन या अन्य युद्धखोरों का जो सुख है वह चेष्टा है सृष्टि के अचेतन अंग मात्र होने के अतिक्रमण की। जो सृजन नहीं कर पाते वे विनाश की ओर झुक जाते हैं। समाधान भिन्न और विपरित है लेकिन समस्या दोनों की एक है। निश्चय ही सृजन का आनन्द और विनाश के सुख में मूलभूत अन्तर है। दोनों स्थितियों में व्यक्ति प्रकृति से दूर हटता है लेकिन पहली स्थिति में वह परमात्मा के निकट पहुंच जाता है और दूसरी स्थिति में कहीं नहीं पहुंचता। पहली स्थिति में स्वयं से मुक्त हो जाता है दूसरी स्थिति में मात्र अहंकार में केन्द्रित। इसीलिए विनाश की दिशा में जो सुख जैसा आभासा था वह अंत में चरम दुःख सिद्ध होता है। क्योंकि स्वयं की अहंता में बंद हो जाने से बड़ा और कोई नरक नहीं है। जीवन का जो भी विकास और विस्तार है वह स्वयं से मुक्त हो समग्र संयुक्त होने में है। यह अवस्था केवल सतत् सृजनशील मन ही उपलब्ध कर पाता है। सतत् सृजनलशील इसलिए कि यदि अपने ही किसी सृजन पर व्यक्ति रूक जाय तो वह भी अहंकार का पोषण हो जाता है। सतत् सृजन का अर्थ है जो हम से निर्मित हुआ है उससे मुक्त होते जाना। जिस दिन सृजन ही रह जाता है और कृतत्व भाव विलीन हो जाता है उस दिन ही, उस क्षण ही, व्यक्ति मिटता है, अहंकार की छाया विसर्जित होती है, समष्टि के द्वार खुलते हैं और ब्रह्म में चेतना का प्रवेश होता है। यह प्रवेश ही आनंद में, आलोक में, और अमृत में प्रतिष्ठा है।

७. प्रेम क्या है ?

प्रेम क्या है इसे समझने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि प्रेम क्या नहीं है, क्योंकि जिसे हम प्रायः प्रेम के नाम से जानते हैं वह और कुछ भले ही हो, प्रेम कतई नहीं है। मानव के संबंधों में भी हमें अधिकतर राग, लालसा, आसक्ति दिखाई देती है, यह प्रेम नहीं कहा जा सकता। प्रेम की विकृति ही राग, लालसा और आसक्ति है।

पहले काम को लीजिए जो राग से उत्पन्न होता है। काम प्रेम नहीं है। काम या यौन आकर्षण तो प्रकृति का संतति उत्पादन के लिए प्रयोग किया गया सम्मोहन है। यथार्थ में वह वैसी मूर्च्छा है, जैसी शल्य चिकित्सक शल्य क्रिया के पूर्व उपयोग में लाता है। इस मूर्च्छा के अभाव में प्रकृति का संतति क्रम चलना संभव नहीं है। इसे ही जो प्रेम समझ लेते हैं वे भ्रांति में पड़ जाते हैं। यह मूर्च्छा मनुष्य में ही नहीं वरन् समस्त

पशु पक्षी कीट पतंगों में भी ऐसी ही पाई जाती है । कई जीवधारियों की तो संभोग के बाद मृत्यु हो जाती है । शहद की मक्खी का दृष्टांत लीजिए । इस मक्खी के छत्ते में इन मक्खियों की एक रानी रहती है । इस रानी से अनेक नर मक्खियां संभोग की इच्छा रखते हैं । अंत में जिस नर को वह रानी पसंद करती है उसके साथ उड़ती है और संभोग होने के पश्चात् नर का प्राणांत हो जाता है । फिर भी प्रकृति का सम्मोहन इतना गहरा है कि सामने खड़ी मृत्यु भी यौन आकर्षण से प्राणियों को नहीं रोक पाती । जहां तक इस प्रकार के प्रेम का संबंध है मनुष्य के विषय में भी वह पशु पक्षियों क्रिमि-कीटादि से भिन्न नहीं है । प्रेम के संबंध में विचार करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यौन आकर्षण को ही प्रेम न समझ लिया जाये । यथार्थ में यह राग का सबसे बड़ा रूप है। सत्य तो यह है कि राग की यह शक्ति जिस मात्रा में वासना से मुक्त हो जाती है उतनी ही मात्रा में उसका रूपांतरण प्रेम में होता है । प्रेम राग नहीं, वरन् राग शक्ति का दिव्य रूपान्तरण है ।

राग के बाद लालसा आती है । हम लालसा और प्रेम को भी एक ही समझ बैठे हैं। लालसा में युद्ध अधिकार की भावना रहती है । मनुष्य शक्ति पिपासु है प्रेम के नाम से भी । इसीलिए अधिकार और स्वामित्व खोजा जाता है । पिता पुत्र, मित्र-मित्र, पति पत्नी आदि के अधिकांश संबंधों में यह अधिकार की भावना दृष्टिगोचर होती है, इसलिए अनेक बार हमें पिता-पुत्र, मित्र-मित्र और पति-पत्नी तक के संबंध टूटते दिखाई पड़ते हैं ।

पति को अपने स्वामित्व का बड़ा ध्यान-रहता है और पत्नी दासी बन जाती है । पत्नी भी ऊपर से चाहे स्वयं को दासी कहे, परन्तु बहुधा भीतर से उसमें भी मालिक बनने का भाव सक्रिय रहता है । मालकियत की यह प्रतिस्पर्धा चाहे वह पिता पुत्र में हो, चाहे मित्र मित्र में और चाहे पति पत्नी में बहुधा संघर्ष और कलह बन जाती है । प्रेम की पहली शर्त है निरहंकारिता । मनुष्य की सबसे बड़ी और गहरी भावना है अहंकार । जहां अहंकार नहीं वहीं प्रेम का जन्म है । लालसा में अहंकार सबसे प्रधान वस्तु रहती है ।

अहंकार केन्द्रित जीवन में जिसे हम प्रेम समझते हैं, वह प्रेम न होकर लालसा होती है। जिसके प्रति यह लालसा रहती है, वह भी अनेक बार इसे प्रेम समझकर भ्रांति में पड़ जाता है । वस्तुओं और साधनों से प्रेम नहीं किया जा सकता । उनका तो बस उपयोग और शोषण ही होता है, हां उन्हें प्रेम जतलाया जा सकता है वैसे ही जैसे दासता के युगों में मालिक गुलामों को जीवन सुविधाएं देता था ताकि वे मर न जायें ।

शायद वे मालिक अपने दासों के प्रति प्रेम भी जतलाते रहे हों। जैसा उनका प्रेम रहा होगा वैसी ही यह लालसा है।

इस प्रकार राग, लालसा और आसक्ति चाहे प्रेम दिखें पर वह यथार्थ में प्रेम नहीं है। जो व्यक्ति स्वयं को निपट शून्य बना लेता है। उससे और केवल उससे ही प्रेम की ऊर्जा अभिव्यक्त होती है। प्रेम, व्यष्टि और समष्टि दोनों के प्रति हो सकता है जिनके हृदय में प्रेम है, वह चाहे व्यष्टि के प्रति हो या समष्टि के, वह प्रेम पात्र के लिए ही सब कुछ करता है। उसकी समस्त इच्छाएं प्रेम पात्र को सुख देने में रहती है। उस प्रेम के बदले में वह कुछ नहीं चाहता है। प्रेम बेशर्त दान है।

और जब ऐसा प्रेम समष्टि से हो जाता है तब उसे विश्व प्रेम की सत्ता मिल जाती है।

इस प्रेम के लिए स्वयं को मिटाना आवश्यक है जो कठिनतम कार्य है। हम तो स्वयं को भरने और बनाने में लगे रहते हैं। इसलिए यह कोई आश्चर्य नहीं है कि हमारे जीवन राग, लालसा और आसक्ति से भरे हों तथा प्रेम से रहित। और जहां प्रेम नहीं वहां दुख है।

प्रेम से उदात्त आनन्द यानी, निर्दोष और दिव्य कोई दूसरी अनुभूति नहीं है। इस सृष्टि के सर्व श्रेष्ठ प्राणी के अनुभव में प्रेम ही सर्व श्रेष्ठ अनुभव है। प्रेम की गहराइयों में ही उसकी चेतना पदार्थ का अतिक्रमण करती है और प्रभु के द्वार पर उपस्थित होती है। प्रेम ही प्रभु का द्वार है। प्रेम है रहस्य और अबूझ। उसे मनुष्य जानता भी है और नही भी जानता, परन्तु अनजाने भी उसे उसका अनुभव होता है। प्रेम के समक्ष परमात्मा भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी से प्रेम परम कला है और प्रेम ही परम प्रार्थना भी। मैं तो कहता हूँ : प्रेम ही परमात्मा है।

८. प्रेम की साधना

साधारणतः जिसे ज्ञान कहते हैं वह ज्ञान द्वैत के ऊपर नहीं ले जाता। जहां दो हैं वहीं ऐसा ज्ञान संभव है। ज्ञेय ज्ञाता हो पृथक ही बना रहता है। इसलिए यह ज्ञान एक बाह्य संबंध है, यह अन्दर प्रवेश नहीं कर पाता। ज्ञाता ज्ञेय के कितने ही निकट पहुंच जाय, फिर भी दूर ही बना रहता है। इस ज्ञान की सम्भावना के लिए दूरी अनिवार्य और अपरिहार्य है। इसलिए ऐसा ज्ञान मात्र परिचय ही हो पाता है, वस्तुतः ज्ञान नहीं बन पाता। मनुष्य के लिए बड़ी से बड़ी पहेलियों में से एक यही है कि ज्ञान बिना दूरी के सम्भव नहीं और जहां दूरी है वहां सच्चा ज्ञान असम्भव है।

क्या यह सम्भव है कि दूरी न हो और ज्ञान सम्भव हो जाय ? यदि यह संभव

नहीं है तो सत्य कभी भी नहीं जाना जा सकता । और साधारणतः यह सम्भव नहीं दीखता, क्योंकि जो भी हम जानते हैं, वह जानने के कारण ही हमसे पृथक और अन्य हो जाता है । ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय को तोड़ देता है । वह जोड़ने वाला सेतु नहीं वरन् पृथक करने वाली खाई है । और यही कारण है कि जिन्हें हम ज्ञानी कहते हैं वे अति अहंकार युक्त हो जाते हैं । जैसे जैसे उनका ज्ञान बढ़ता है, वैसे वैसे वे विश्वसत्ता से टूटते जाते हैं । इस भांति यदि कोई सर्वज्ञ हो जाये तो वह अपने अहं बिन्दु पर समग्र रूपेण केन्द्रित हो जायगा । और जहां जितना अहंकार है उतना ही अंधकार है । ज्ञानी होने का बोध अहंकार की सूचना है । और सर्वज्ञ होने की धारणा परम अज्ञान की स्थिति हैं । सुकरात को परम ज्ञानी कहा गया है । क्योंकि उसने कहा है कि मैं इतना ही जानता हूं कि मैं कुछ भी नहीं जानता । उपनिषद् भी घोषणा करते हैं कि अज्ञान तो अंधकार में ले ही जाता है, लेकिन ज्ञानी महा अंधकार में ले जाते हैं । ईशोपनिषद् का इस संबंध में स्पष्ट कथन है : 'जो जन अविद्या में निरन्तर मग्न हैं, वे डूब जाते हैं घने तमसान्ध में । जो मनुज विद्या में सदा रममाण हैं, वे और घन तमसान्ध में मानो धंसे । जो मनुज करते हैं निरोध उपासना, वे डूब जाते हैं धने तम सान्ध में । जो जन सदैव विकास में रममाण हैं, वे और घन समसान्ध में मानो धंसे ।'

अहंकार ही अज्ञान है । इसलिए जिस ज्ञान से अहंकार पोषित होता हो, वह पछन्न रूप में अज्ञान ही है । फिर क्या ऐसा भी कोई ज्ञान सम्भव है, जो अज्ञान न हो, अर्थात् क्या ऐसा ज्ञान सम्भव है जिसमें अहंकार न हो ? दूसरे शब्दों में क्या ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय को जोड़ने वाला सेतु भी हो सकता है ? निश्चय ही ऐसा ज्ञान सम्भव है और उस ज्ञान का नाम ही प्रेम है । प्रेम ज्ञान का ऐसा मार्ग है जहां अहंकार को मिटाकर प्रवेश मिलता है । प्रेम का अर्थ है स्वयं के और सर्व के बीच दूरी को मिटाना । यह दूरी उसी मात्रा में विलीन होने लगती है जिस मात्रा में मैं का भाव नष्ट हो जाता है । रूमी की एक कविता है– जिसमें प्रेमी ने प्रेयसी के द्वार पर दस्तक दी है । भीतर से पूछा गया–कौन है? प्रेमी ने कहा मैं तेरा प्रेमी । लेकिन फिर भीतर से कोई ध्वनि न आई और न दरवाजे खुलते मालूम पड़ें । प्रेमी ने चिल्लाकर पूछा कि क्या कारण है कि द्वार नहीं खुलते हैं। उत्तर मिला प्रेम के द्वार उसके लिए ही खुलते हैं, जिसने वैसी पात्रता अर्जित कर ली हो । यह सुन प्रेमी चला गया और वर्षों की तपश्चर्या के बाद पुनः उस द्वार पर आया । फिर पूछा गया कौन है ? इस बार उत्तर भिन्न था । प्रेमी ने कहा मैं नहीं हूं अब तो तू ही है । और जो द्वार सदा बन्द थे वे खुल गये । प्रेम के द्वार तभी खुलते हैं जब अहंकार का आभास गिर जाता है । सत्य पर पर्दा नहीं है । पर्दा हमारी दृष्टि पर है और गहरे देखने पर प्रेम के द्वार बन्द नहीं थे, अहंकार से आंख बन्द थीं ।

अहंकार गया तो द्वार सदा से खुले ही हैं।

प्रेम की साधना स्वयं को मिटाने की साधना है। और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यही है कि जो स्वयं को मिटाता है वही स्वयं को पाने में समर्थ होता है!

९. धर्म और तथाकथित धर्म

धर्म के प्रति आधुनिक मन में बड़ी उपेक्षा है। और यह अकारण भी नहीं है। धर्म का जो रूप आंखों के सामने आता है, वह न तो रुचिकर ही प्रतीत होता है और न ही धार्मिक। धार्मिक से अर्थ है सत्य, शिव और सुन्दर के अनुकूल। तथाकथित धर्म वह वृत्ति ही नहीं बनाता जिससे सत्य, शिव और सुन्दर की अनुभूति होती हो। विपरीत असत्य, अशिव, और असुन्दर की भावनाओं को बल और समर्थन भी देता है। हिन्सा, वैमनष्य और विद्वेष उसकी छाया में पलते हैं। मनुष्य का इतिहास तथाकथित धर्म के नाम पर इतना रक्त रंजित हुआ है कि जिनमें थोड़ा विवेक और बुद्धि है, बहुत स्वाभाविक है कि न केवल उनके हृदय धर्म के प्रति उदासीन हो जायं, बल्कि ऐसे विकृत रूपों के प्रति विद्रोह का भी अनुभव करें। यह बात विरोधाभासी मालूम होगी, किन्तु बहुत सत्य है कि जिनके चित्त वस्तुतः धार्मिक हैं वे ही लोग तथाकथित धर्मों के प्रति विद्रोह अनुभव कर रहे हैं।

धर्म भी एक जीवन्त प्रवाह है। और निरंतर रूढ़ियों, परम्पराओं और अंधविश्वासों को तोड़कर उसे मार्ग बनाना पड़ता है। सरिताएं जैसे सागर की ओर बहती हैं और उन्हें अपने मार्ग में बहुत सी चट्टानें तोड़नी पड़ती हैं, और बहुत सी बाधाएं दूर करनी होती हैं, ठीक वैसे ही धर्म का भी विकास होता है। धर्म के प्रत्येक सत्य के आसपास शीघ्र ही सम्प्रदाय अपने घेरे बांध कर खड़े हो जाते हैं। फिर इन घेरों से न्यस्त स्वार्थ पैदा होते हैं। स्वाभाविक है कि जहां स्वार्थ है वहां संघर्ष भी आ जाये। ऐसे संप्रदाय आपस में लड़ने लगते हैं। यह लड़ाई वैसी ही है जैसी प्रतिस्पर्धी दुकानों में ग्राहकों के लिए होती है। संगठन संख्या पर जीते हैं। इसलिए येन केन प्रकारेण अनुयायिओं को बढ़ाने की दौड़ चलती रहती है। धर्म के नाम पर भी इस प्रकार शोषण संभव हो जाता है। मार्क्स ने सम्भवतः इसी कारण धर्म को जनता के लिए अफ़ीम का नशा कहा है।

धर्म संप्रदाय सत्य के खोजी भी नहीं रह जाते। वे तो अपनी अपनी धारणाओंको हर स्थिति में सत्य सिद्ध करने में संलग्न रहते हैं और इसलिए वे ज्ञान के प्रत्येक नये चरण के शत्रु हो जाते हैं। विज्ञान के साथ धर्म का संघर्ष इसी बात की सूचना है। ज्ञान तो नित आगे बढ़ता रहता है और तथाकथित धार्मिक पुरानी और मृत धारणाओं

से ही चिपके रहते हैं, इसलिए वे प्रगति के विरोध में प्रतिक्रियावादी सिद्ध होते हैं। ऐसे धर्म-सम्प्रदाय धर्म के ही मार्ग में बाधा बन जाते हैं। धर्म को जितना अहित साम्प्रदायिक दृष्टि ने पहुंचाया है, उतना किसी और बात ने नहीं। सम्प्रदाय जितने बढ़ते गये धर्मका उतना ह्रास होता गया। सम्प्रदाय तो जड़ आवरण है। धम की विकासशील आत्मा के वे कारागृह बन जाते हैं।

धर्म एक है लेकिन सम्प्रदाय अनेक हैं। और इसी कारण अद्वय सत्य की उपलब्धि में उनकी अनेकता सहयोगी नहीं हो पाती। जैसे विज्ञान एक है और उसके कोई सम्प्रदाय नहीं वैसे वस्तुतः धर्म भी एक है और उसके सत्य भी सार्वभौम हैं। धर्म की सम्प्रदायों से मुक्ति अत्यन्त आवश्यक हो गई है। मनुष्य के विकास में ऐसी घड़ी आ गयी है, कि धर्म सम्प्रदाय से मुक्त होकर ही उसे प्रीतिकर उपादेय और वाछंनीय ज्ञात हो सकेगा। सम्प्रदाय से मुक्त होते ही धर्म का न्यस्त स्वार्थ का रूप नष्ट हो जाता है। फिर वह दूकानदारी नहीं है और न ही किन्ही अंधविस्वाओं का प्रचार है। फिर वह न संगठन है और न शोषण। फिर तो वह व्यक्ति सत्ता और सर्व सत्ता के बीच प्रेम और प्रार्थना का अत्यन्त निजी संबंध है। धर्म अपने शुद्ध रूपमें वैयक्तिक है। वह तो स्वयं का समर्पण है। संगठन से नहीं साधना से उसका संबंध है। क्या प्रेम के कोई सम्प्रदाय है ? और जब प्रेम के नहीं है तब प्रार्थना के कैसे हो सकते हैं ? प्रार्थना तो प्रेम का ही शुद्ध तम रूप है।

सत्य की कोई भी धारणा चित्त को बंदी बना लेती है। और सत्य को जानने के लिए चित्त की परिपूर्ण स्वतंत्रता अपेक्षित है। चित्त जब समस्त सिद्धान्तों, शास्त्रों से स्वयं को मुक्त कर लेता है, तभी उस निर्दोष और निर्विकार दशा में सत्य को जानने शब्दों में समर्थ हो पाता है। व्यक्ति जब शून्य होता है तभी उसे पूर्ण को पाने का अधिकार मिलता है।

१०. मनुष्य प्रथम शेष सब पीछे

मनुष्य के सारे जीवन सूत्र उलझ गये हैं। उसके संबंध में कोई भी सत्य सुनिश्चित नहीं प्रतीत होता। न जीवन के अर्थ का पता है, न अंत का। पहले के समय में जो भी धारणाएं स्पष्ट प्रतीत होती थीं वे सब अस्पष्ट हो गई हैं। धारणाओं के पुराने भवन तो गिर गये नए निर्मित नहीं हुए। पुराने सब मूल्य मर गये हैं या मर रहे हैं और कोई नये मूल्य अंकुरित नहीं हो पाते। एक ही नया मूल्य अंकुरित हुआ है वह है कि यह भौतिक जीवन ही सब कुछ है परन्तु इस नये मूल्य में इकंगा होने के कारण उलट संघर्ष, द्वंद्व और युद्ध आदि अशांति को जन्म दिया है। इस भांति जीवन दिशा शून्य

होकर ठिटकी सी खड़ी रह गई है। यह किंकर्तव्यविमूढ़ता हमारी प्रत्येक चिन्तना और क्रिया पर अंकित है। स्वभावतः ऐसी दशा में हमारे चित्त यदि तीव्र संताप से भर गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं। गन्तव्य के बोध के बिना गति एक बोझ ही हो सकती है। जीवन के अर्थ को जाने बिना जीना एक भार ही हो सकता है। अर्थ और अभिप्रायः शून्य उपक्रम अन्ततः अर्थ और अभिप्राय को कैसे जन्म दे सकते हैं। जिस यात्रा का प्रथम चरण ही अर्थहीन हो, उसका अंतिम चरण अर्थ नहीं बन सकता। फिर जो पूरी की पूरी यात्रा ही अर्थहीन हो तब तो अंत में अनर्थ ही हाथ आयेगा। यह कोई कोरे सिद्धांत की बात नहीं हैं। यह तो सीधा अनुभव ही है। चारों ओर हजारों चेहरों पर छाई हुई निराशा लाखों आंखों में घिरा हुआ अंधकार करोड़ों हृदयों पर ऊब और संताप का भार इसका स्पष्ट प्रमाण है। खोजे से भी शांत, संतुष्ट और आनन्दित व्यक्ति का मिलना दुर्लभ होता जा रहा है। अभी भी ऋतुराज आता है और सृष्टि सुमनों तथा उनकी सुगंधि से भर जाती है पावस में मेघमालाएं उठती, दामिनी दमकती, वर्षा होती, इन्द्र धनुष निकलता और हरियाली छा जाती है। ऊषा और संध्या की सुनहरी आभा से पूर्व और पश्चिम नित्य ही आलोकित होते हैं। उदय होते हुए भगवान भास्कर की आभा और नित्य प्रति बढ़ती हुई चन्द्रमा की कलाएं अपना अपना सौंदर्य दिखाती हैं। विविध समीर बहता है और पंछी अपना मधुर राग अलापते हैं। किन्तु वे मनुष्य कहां हैं जिनके हृदय संगीत से भरे हों और जिनकी आंखों से सौन्दर्य झरे ? निश्चय ही मनुष्य के साथ कुछ भूल हो गई है। निश्चय ही उसके भीतर कुछ टूट और खो गया है। निश्चय ही मनुष्य जो होने को पैदा हुआ है, वही होना वह भूल गया है।

यह भूल इसलिए हुई कि मनुष्य जो उसके बाहर है उसे समझने और जीतने में अतिसय से संलग्न हो गया है। उसकी बाहर की अति सलंग्नता ने भीतर की भूमि से क्रमशः उसे अपरिचित कर दिया है। धीरे धीरे यह स्मरण ही न रहा कि हमारे भीतर भी जानने और जीतने को एक जगत् है। बाहर के जगत् में मिली विजयें क्रमशः उसे और बाहर लेती गईं। नये नये अविजित क्षितिज उसे आकर्षित करते रहे और उनके प्रलोभन में वह स्वयं से ही दूर बढ़ता गया। जगत् का कोई अंत नहीं है। बाहर अनन्त विस्तार है, यह सम्भव नहीं कि कभी भी उस पूरे विस्तार को हम अपनी मुट्ठी में ले सकेंगे। जितना हम जानते हैं जगत् उतना ही बड़ा होता जाता है। जितना हम उसे जीतते हैं उतना ही वह अविजित क्षेत्र बड़ा होता जाता है। इस दौड़ में स्वर्णमृग तो हाथ नहीं आता। हां, स्वयं की सीता से जरूर दूर हुए जाते हैं। राम ने जैसा अंत में पाया कि स्वर्णमृग तो मिला नहीं लेकिन सीता अवश्य खो गई। ऐसी दशा पूरी मनुष्यता की

है । बाहर के सर्व को खोजने और जीतने हम निकले और अंत में यह पा रहे हैं कि भीतर के स्व को ही हार गये और खो बैठे । मनुष्य की चेतना को वापिस उसके स्व में प्रतिष्ठित करना अपरिहार्य हो गया है । तभी हम स्वयं को जानने में समर्थ हो सकेंगे । और उस ज्ञान के प्रकाश से ही जीवन की उलझी गुत्थी सुलझ पायेगी । यह अज्ञान चरम अज्ञान है कि स्वयं को ही न जानता हो वह शेष सबको जानने में संलग्न हो । प्रकृति नहीं पुरुष ही सर्व प्रथम जानने योग्य है । उस ज्ञान के आधार पर शेष सब ज्ञान सार्थक हो सकता है । उस मूल ज्ञान के अभाव में और किसी भी भांति के ज्ञान का कोई भी मूल्य नहीं । मनुष्य प्रथम है शेष सब पीछे । मनुष्य को सबसे अंत में रखकर ही भूल हो गई है ।

११. मनुष्य की समस्याएं और व्यक्ति का चित्त

इस काल में मनुष्य के विकास में एक अद्‌भुत विरोधाभास दिखाई देता है जहां एक और मौलिक तल पर समृद्धि और प्रगति अनुभव होती है वहीं इस भौतिक समृद्धि और प्रगति के साथ साथ ही आत्मिक तल पर ह्रास और पतन भी दिखाई पड़ता है । अतः वे लोग भी ठीक हैं जो कहते हैं कि मनुष्य निरन्तर उन्नत हो रहा है और वे लोग भी ठीक हैं जिनकी मान्यता है कि मनुष्य का प्रतिदिन पतन होता जा रहा है । हम दोनों को ठीक इसलिए कहते हैं कि भौतिक वादी अपनी दृष्टि से आधुनिक मनुष्य को देखते हैं और अध्यात्मवादी अपनी दृष्टि से । कठिनाई यह है कि दोनों ही यह अनुभव नहीं करते कि उनकी दृष्टि एकांगी दृष्टि है । भौतिक विचारधारा वाले तो आत्मिकतल भी कोई तल होता है इसे मानते तक नहीं हैं और आध्यात्मिक विचारधारा वाले यह सारी समृद्धि और प्रगति को निरर्थक मानते हैं । विचारणीय यह हो गया है कि विरोधी दिशाओं में खिंच रही मानव की यह स्थिति कहीं उसका अन्त ही न कर दे । यह घटना असम्भव घटना नहीं है । यह इसलिए कि यदि हम भौतिकतल की उन्नति में ही लगे रहे और हमारा अन्तस जैसा अभी है वैसा ही रहा तो यह सारी भौतिक समृद्धि नष्ट हो सकती है । भीतर रुग्णता हो और बाहर स्वस्थ दिखाई पड़े तो किसी भी क्षण दुर्घटना घटित हो सकती है । जिस हृदयरोग का आजकल बाहुल्य हो गया है उसमें बाहिरी स्वस्थता ही दीख पड़ती है, परन्तु बाहर का स्वास्थ्य अच्छा दिखते हुए भी यह ऐसा रोग है जो क्षण भर में सारी स्वस्थता समाप्त कर व्यक्ति का नाश कर देती है । बाहर सम्पदा दिखाई पड़े और भीतर पास में कुछ न हो तो दिवालियापन कभी भी प्रकट हो सकता है । बाहर विकास हो और भीतर ह्रास तो भविष्य के सम्बन्ध में आशावान नहीं हुआ जा सकता । बाह्य और अंतस का तनाव

से बड़ा और कोई तनाव संभव नहीं है। इससे बड़ी न तो कोई अशान्ति हो सकती है और न कोई आत्म वंचना। हम कब तक अपने को धोखा दिए जायेंगे। हर धोखे का भी टूट जाने का समय आता है और भौतिक समृद्धि के रहते हुए अन्तस् की इस शून्यता के कारण जिस एक धोखे में हम रह रहे हैं उस धोखे के टुटने का समय निकट आ रहा है – अन्तस् की यह स्थिति ही भौतिक समृद्धि के बढ़ते रहने पर चारों ओर अनैतिकता और अमानवीयता बढ़ा रही है जिसे सच्ची धार्मिकता कहते हैं वह नष्ट हो गई है। इस स्थिति में प्रतिक्षण पैदा हो रहे छोटे बड़े दुष्परिणाम क्या हमें सजग कर देने को यथेष्ट नहीं है? क्या सम्पत्ति और समृद्धि के बीच भी तीव्र संताप की मनस्थिति और चिन्ता की ज्वालाओं का ताप हमें जगा देने को पर्याप्त नहीं है? व्यक्ति के तल पर ही नहीं समाज और राष्ट्रों के तल पर भी फैला हुआ विद्वेष, घृणा और हिन्सा और आए दिन विस्फोट होते हुए घातक युद्ध भी क्या हमारी निद्रा को नहीं तोड़ सकेगे। बीती आधी सदी में दो महायुद्धों में कोई दस करोड़ लोगों की हत्या हुई। जहां जहां युद्ध की विभीषिका फैली थी वहां वहां युद्ध के पश्चात् जीवित जन समुदाय ने अगणित कष्ट पाए। इतनी बड़ी हिन्सा और दुर्दशा का जन्म निश्चित ही हमसे ही हुआ है। हम ही इसके लिए उत्तरदायी हैं। हम जैसे हैं उसमें ही उसके बीज मौजूद हैं। ये युद्ध केवल राजनैतिक या आर्थिक स्थिति के ही परिणाम नहीं थे। मूलतः और अन्ततः तो सब कुछ मानव के मन से सम्बन्धित होता है। ऊपर से इस प्रकार की घटनाएं चाहे राजनैतिक दिखें अथवा आर्थिक किन्तु गहरे में तो सभी कुछ मानसिक रहता है। समाज में ऐसी कोई स्थिति नहीं है जिसके मूल कारण व्यक्ति के मन में न खोजे जा सकें, क्योंकि समाज व्यक्तियों के जोड़ के अतिरिक्त और क्या है? जो चिन्गारियां व्यक्तियों के मनों में अत्यन्त छोटे रूप में दिखाई पड़ती है वे ही तो समूह की सामूहिकता में विकराल अग्निकांड बन जाती है।

व्यक्ति की आत्मा में ही यथार्थ में समूह का सारा स्वास्थ्य या रुग्णता छिपी रहती है। आत्म विपन्न व्यक्ति स्वस्थ समाज के निर्माता नहीं हो सकते। दुखी संतापग्रस्त ईकाइयां किसी भी भांति आनन्दपूर्ण और शान्त चित्त समाज की घटक कैसे हो सकती है? ऐसा कोई भी चमत्कार संभव नहीं है कि जो तत्व में किसी भी अंश रूप से इकाई में उपस्थित न हो और वह पूर्ण जोड़ में आ जाय। जो समूह में और जोड़ में दिखाई पड़ता हो, मानना होगा कि वह अपने अंशों में अतिसूक्ष्म रूप से अवश्य ही मौजूद रहता है। इसीलिए ऊपर दूसरे शब्दों में केवल उथला देखकर मानवीय जीवन की किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। उथले में समूह ही पकड़ में आता है, गहरे जाने पर

व्यक्ति उपलब्ध होता है। जहां समस्या का जन्म है, वही समाधान भी खोजना होगा तभी वह समाधान और वास्तविक समाधान होगा। अन्यथा जिसे हम समाधान मानते हैं वह और अन्य नवीन समस्याएं खड़ी कर देता है। जैसे युद्धको मिटाने के लिए या शान्ति पाने के लिए उथली दृष्टि युद्ध का ही समाधान प्रस्तुत करती है। आज तक जितने युद्ध लड़े गए वे अन्याय का निराकरण करने और न्याय की स्थापना करने के उद्देश्य से ही लड़े गए यह सदा कहा गया। परन्तु जिसे अन्याय कहा जाता था न युद्ध से उस अन्याय का निराकरण हुआ और जिसे–न्याय कहा जाता था न उस न्याय की ही स्थापना। इस प्रकार भ्रान्त तर्क के आधार पर हजारों वर्षों से मनुष्य लड़ता रहा है लेकिन कोई भी युद्ध न अन्याय का निराकरण कर सका और न न्याय की स्थापना। फिर शान्ति तो वह स्थापित कर ही कैसे सकता था। जो युद्ध शांति का विरोधी है उससे शान्ति की स्थापना! अनेक युद्धों को तो धर्मयुद्ध तक कहा गया है। कोई युद्ध भी धर्म युद्ध हो सकता है? युद्ध शान्ति का जनक न होकर नए युद्धों का ही जन्म दाता होता है और नया युद्ध पुराने युद्ध से भीषणतर होता जाता है। पश्चिम में जहां सर्वप्रथम सभ्यता का विकास हुआ उस यूनान के ऐथिन्स और स्पार्टा के युद्धों में वीरगति प्राप्त करने वालों की संख्या कितनी और उस युद्ध के आयुध कैसे थे। पूर्व में भारतीय महाभारत युद्ध में भी कितना नर संहार हुआ था और उसमें भी किस प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का उपयोग किया गया था। इस शताब्दी के गत दो विश्व युद्धों के नरसंहार और आयुधों का इन प्राचीन युद्धों से मिलन किया जाय। और अब तो अणुबम और उद्जन बम तक हम पहुंच गए है। यदि तीसरा विश्व व्यापी युद्ध हुआ और उस युद्ध में इन आयुधों का उपयोग किया तो विश्व की मानवता की क्या स्थिति रहेगी इस संबंध में बड़े से बड़ा भविष्य वक्ता भी कोई ठीक भविष्यवाणी करने में असमर्थ है। ऐसे ही जीवन की अन्य समस्याओं के भी हमारे समाधान है। अपराध को मिटाना है तो दण्ड और फांसी है किन्तु हजारों वर्षों तक दण्ड देने पर भी अपराध मिटा नहीं, वह बढ़ता गया और अभी भी बढ़ रहा है। इतने पर भी हमारी आखें नहीं खुलतीं और हम सतह पर ही इलाज किए चले जाते हैं। जबकि बीमारी गहरी है और भीतर है। शोषण मिटाने के लिए हिन्सात्मक क्रान्तियाँ हुई। जबकि शोषण भी हिंसा ही है तो वह हिंसा से कैसे मिटाया जा सकेगा। हिंसा से जो क्रान्तियां हुईं उनसे क्या कहीं भी शोषण मिट पाया है। इस प्रकार की क्रान्तियों का परिणाम यह होता है कि शोषक तो बदल जाते हैं किन्तु

शोषण बना रहता है।

व्यक्ति के अन्तस्तल के परिवर्तन के बिना कोई परिवर्तन वास्तविक परिवर्तन नहीं हो सकता। व्यक्ति के हृदय में समृद्धि आनी चाहिए। वहां की दरिद्रता, दीनता और रिक्तता मिटनी चाहिए। वहां दुःख, चिन्ता और संताप का अन्त होना चाहिए। जब तक उस गहराई में आलोक प्रेम और आनंद का अविर्भाव न होगा तब तक जीवन को शान्त और सुखी बनाने के सब उपाय व्यर्थ होंगे। क्या केवल भौतिकतल की समृद्धि यह कर सकती है? केवल बाह्य समृद्धि और बाह्य विकास उस अवस्था को देने में असमर्थ है। मनुष्य की आन्तरिकता भी विकसित होनी चाहिए। चीजों का बढ़ता जाना ही पर्याप्त नहीं है, हृदय भी बढ़ना चाहिए। वस्तुओं की पारिमाणिकता ही नहीं पर मनुष्य की गुणात्मिकता भी बढ़नी चाहिए। मनुष्यता की वृद्धि जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक समस्याएं कम हो जायेंगी क्योंकि हमारी अधिकांश समस्याएं हमारे भीतर जो पाशविकता है उससे ही उत्पन्न होती है। और आज हम इस पाशविकता की अभिव्यक्ति के लिए ही अधिकतर नए नए उपाय खोजते रहते हैं फिर चाहे वे राष्ट्रों के नाम पर हों चाहे सिद्धान्तों के नाम पर चाहे वादों के नाम पर। अच्छे अच्छे शब्दों की आड़ में हम अपने बुरे से बुरे रूप को प्रगट करते रहते हैं। शब्द तो बहाने हैं। उन्हें कोई समस्याएं न समझे। जो उन्हें ही समस्याएं समझ लेता है वह समाधान तक कभी नहीं पहुंच सकेगा। समस्या शब्दों की नहीं चित्त की है। प्रश्न युद्ध का नहीं युद्ध करने वाले मन का है। वह मन जो संघर्ष, विप्लव युद्ध करना चाहता है वह एक बहाना न मिलने पर दूसरा बहाना खोज लेगा। इसलिए बहाने तो बदलते जाते हैं परन्तु यह अशांति बनी रहती है। जो चित्त इसाईयत और इस्लाम के नाम पर लड़ता था या हिन्दू और बौद्ध के नाम पर वही चित्त साम्यवाद और जनतंत्र के नाम पर लड़ रहा है। लेकिन लड़ाई वहीं की वहीं है। इस स्थिति को बदलना हो तो चित्त को बदलना आवश्यक है।

१२. शिक्षा का मौलिक आधार

सृष्टि में कोई भी वस्तु पूर्णतया पूर्ण और निर्दोष तो नहीं हो सकती परंतु मानव हर वस्तु को निर्दोष बनाने का यत्न अवश्य करता है। चूंकि वह स्वयं पूर्ण नहीं है इसलिए उसके समस्त कार्य अपूर्ण ही रहते है। हजारों वर्षों के मानव इतिहास में कभी भी शिक्षा की कोई पद्धति सर्वथा निर्दोष और सर्वमान्य नहीं रही है। परंतु शिक्षा की वर्तमान पद्धति तो अत्यंत शोचनीय और चिंतनीय

हो गई है। सारे संसार में कोई भी उससे संतुष्ट नहीं है। इसका कारण प्रधान यह है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति के माध्यम से मनुष्य को जानकारियां (Infarmation) तो मिल जाती है लेकिन सच्चे ज्ञान की उपलब्धि उसे नहीं होती। यह ज्ञान उपलब्ध न होने से स्वयं मानव का निर्माण यह शिक्षां नहीं कर पाती। तथ्यों की जानकारी से मनुष्य का मस्तिष्क तो भर जाता है, परंतु उसकी अन्तर्रात्मा खाली की खाली बनी रहती है। न तो उसके अन्तःकरण का जागरण होता है न उसके हृदय में शुभ–भावना का अवतरण। इसे यों भी कह सकते हैं कि यह शिक्षा है उस आहार की भांति जिससे भूख तो मिटजाती है, तृप्ति नहीं होती और न ही नया रक्त अथवा अन्य धातुओं की शरीर में अभिवृद्धि ही होती है। यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा हमारे चरित्र को स्पर्श भी नहीं कर पाती और इससे मनुष्य के व्यक्तित्व को गढ़ने का कोई उपाय प्रतिपादित नहीं होता। यह कितना आश्चर्यजनक और अभाग्यपूर्ण है कि शिक्षा प्रशिक्षण द्वारा पशु को मानव बनाने का उपक्रम तो किया जाता है किंतु मानव को मानव बनाने का नहीं। या इसे यों कहे कि पशु की पशुता दूर करने के प्रयत्न तो किये जा रहे हैं, जबकि मनुष्य में अन्तर्निहित पाशविकता को उल्टा बढ़ाया जा रहा है। और यही क्या उसे मानव से कुछ और बनान के सभी प्रयत्न आधुनिक शिक्षा में किये जा रहे है।

मानव को मानव बनाये रखना है अथवा कुछ और बना देना है यही आधुनिक शिक्षा की एक समस्या है। जिस पर ही बुद्धिवादी विवेकशील व्यक्ति और संसार का हर वर्ग चिंतित है।

मनुष्य को छोड़कर अन्य किसी जीव को शिक्षित नहीं किया जा सकता, क्योंकि निसर्ग ने जो ज्ञान शक्ति मनुष्य को दी है वह अन्य किसी प्राणी को नहीं। अन्य जीवों को केवल प्रशिक्षण (training) दिया जा सकता है। जैसे सर्कस के सिंह, हाथी, घोड़ा, बंदर, बकरे और तौता मैना आदि को। शिक्षण और प्रशिक्षण के इस बुनियादी भेद को समझना बहुत आवश्यक है।

शिक्षा का सूत्र, उसका स्त्रोत, उसकी झिर अन्तस् में है। वह एक संस्कार है जो बीज रूप से अंकुरित हो वृक्ष बनता है और उसमें पुष्प एवम् फल फलते हैं। जबकि प्रशिक्षण मात्र अभ्यास है। वह है उस पौधे की भांति, जो पुष्प और फलों से रहित रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सजावट के किसी स्थल पर क्षणिक महत्व के लिए रोपा जाता है। जिसे आर्टिफिसियल कह सकते है। याने

शिक्षा एक प्राकृतिक संस्कार है और प्रशिक्षा एक कृत्रिम वस्तु मात्र। पहले का संबंध अन्तस् से है दूसरे का बाहर से, पहला प्राकृतिक है दूसरा कृत्रिम! एक विकासशील प्राण तत्व है तो दूसरा निर्जीव पदार्थवत्। इस प्रकार प्रशिक्षण ऊपर से जबर्दस्ती थोपा हुआ ढांचा है, शिक्षा ऊपर से नहीं थोपी जाती बरन् अन्तस् को जगाकर दी जाती है। पानी के हौज़ में जिस प्रकार पानी ऊपर से भरा जाता है उसी प्रकार प्रशिक्षण शिक्षा कुए में भरे हुए पानी की भांति है जो भीतरी झिरों से भरता है। अंग्रेजी शब्द "एजुकेशन" का अर्थ बड़ा महत्वपूर्ण है। उसका अर्थ है भीतर से बाहर निकालना उसका अर्थ बाहर से भीतर डालना नहीं है। पर हम जो कुछ कर रहे है वह बाहरसे भीतर डालना है। इसे शिक्षा कैसे कहा जा सकता है? यह मात्र प्रशिक्षण है और यही कारण है कि जिसे हम शिक्षित होना कहते हैं, और जिसे हमारे विश्व विद्यालय सम्मानित करते हैं, वह जीवन की व्यापक और बृहद् परीक्षा में असफल हो जाता है। ऐसा शिक्षित जन केवल रटा हुआ तोता होता है, उसमें स्वयं विचार की न तो कोई ऊर्जा होती है और न अपने जीवन को निर्देशित करने का कोई विवेक। वह पानी की लहरों पर बहते हुए लकड़ी के उस टुकडे की भांति होता है जिसे लहरे जहां ले जाती हैं चला जाता है।

प्रशिक्षण का शिक्षण के रूप में इस भांति प्रचलित होना तकनीकी शिक्षा के अति प्रभाव के कारण हुआ है, क्योंकि तकनीकी का प्रशिक्षण ही हो सकता है, शिक्षण नहीं। सारा संसार चूंकि भौतिक समृद्धि के लिये लालायित है, और हमारा देश तो गरीबी के कारण और अधिक, इसलिए तकनीकी ज्ञान को ही प्रमुखता मिली है। मैं तकनीकी ज्ञान की और उसके द्वारा होने वाली भौतिक समृद्धि के विरूद्ध नहीं हूं। संसार के लिये और हमारे लिये वह भी आवश्यक है। किंतु इससे जो हमारा अनिष्ट हो रहा है, उसकी दिनों दिन बढ़ती हुई संभावना से हमारे बुनियादी जीवन का जो आधार खोखला हो रहा है, उससे अब हम अधिक समय तक अपनी आंखें मूंद कर नहीं रह सकते। अपनी अयोग्यता को छिपाकर केवल अभ्यास बल पर हम आखिर कहां तक आगे बढ़ सकेंगे? सच्ची शिक्षा के जमाव में यह प्रशिक्षिण हमारे जीवन को दरिद्र और एकंगा बना रहा है। और इसी के साथ इसके कुछ भयावह नतीजे भी निकल रहे है। तकनीकी ज्ञान भौतिक जगत् नियंत्रण के लिये आवश्यक है। परंतु जिसे मैं सच्ची शिक्षा कहता हूं, उसके द्वारा शिक्षित न होने के कारण मनुष्य अपने पर नियंत्रण नहीं कर पा रहा है। और स्वयं पर इस अनियंत्रण

के कारण उसका पदार्थ ज्ञान एवं भौतिक वस्तुओं का आधिपत्य वैसा ही है जैसा अबोध बच्चे के हाथ में तलवार देना। पिछले दो महायुद्ध इसके प्रमाण है और हम आज भी उसी दिशा में बढ़ रहे है। हमें इन महायुद्धों से चेतावनी नहीं मिली। यदि हम सचेत नहीं होते हैं तो अनियंत्रित मनुष्य के हाथ में प्रकृति की नियंत्रित शक्तियां आत्मघाती सिद्ध होंगी। इसकी चरम परणति समस्त मानवता के अंत में हो सकती है। अतः भौतिक वस्तुओं पर नियंत्रण के पूर्व मनुष्य का उससे कहीं अधिक स्वयं पर नियंत्रण होना आवश्यक है। क्योंकि शक्ति केवल संयम के हाथों में ही सुरक्षित रहती है। असंयमी अविवेकी के शक्तिशाली होने से भस्मासुर की पुनरावृत्ति अवश्यम्भावी है।

इस जगत में। मनुष्य के लिये मनुष्य से अधिक महत्वपूर्ण और कुछ भी नहीं है। वह प्रथम है और जो शिक्षा मनुष्य के सृजन की शिक्षा न होकर उसके संहार का कारण बनती है उसे शिक्षा कैसे कहा जा सकता है? शिक्षा का अर्थ ही एक सदिच्छा सद्भाव के प्रसार को करना है। एक ऐसे ज्ञान का विस्तार शिक्षा तत्व में निहित है जो व्यष्टि के माध्यम से समष्टि के कल्याण का केन्द्र बने। तकनीकी ज्ञान शिक्षा का प्रधान अंग कभी नहीं होना चाहिये, वह गौण रहना चाहिये। मानवीय मूल्यों की स्थापना ही शिक्षा का केंद्रीय तत्व है। तकनीकी ज्ञान से उपर्जित वस्तुएं जीवनयापन का साधन हो सकती है, साध्य नहीं साध्य तो मनुष्य स्वयं है। इस साध्य की प्राप्ति के लिये ही शिक्षा उसका एक शस्त्र है, एक साधन है। वर्तमान शिक्षा पद्धति में हुआ यह है कि जो साध्य है वह साधन बन गया है और साधन है वह साध्य। इस प्रकार साधन को साध्य के ऊपर रखना घातक सिद्ध हुआ है। भौतिक शिक्षा में साधन साध्य बन जाते है और आध्यत्मिक शिक्षा में साधन साधन रहते हैं और साध्य साध्य। यदि आवश्यकता पड़े एवं कोई अन्य विकल्प शेष न रहे तो सच्ची शिक्षा साधनों का परित्याग कर सकती है लेकिन साध्य का नहीं। उसकी दृष्टि में वे हर साधन सम्यक् है जो जीवन के चरम साध्य की उपलब्धि में सहयोगी है। उसके विपरीत पड़ते ही वे व्यर्थ और त्याज्य हो जाते हैं।

मानव की सम्यक् शिक्षा मूलतः उसके विवेक और उसकी भावनाओं की शिक्षा होगी। विवेक जागृत और शक्तिशाली हो तथा भावनाएं संयमित और शुभ। विवेक के जागृत होते ही वासनायें अनिवार्यत! उसकी अनुगामी हो जाती है। फिर श्रेय ही प्रेम हो जाता है। ऐसा जीवन ही यज्ञपूर्ण जीवन है। शिक्षा का लक्ष्य एसा ही जीवन है।

समाचार विभाग

धर्म चक्र प्रवर्तन

आचार्य श्री के देशव्यापी कार्यक्रम

संकलन—श्री जटुभाई महेता

"धर्म है आंतरिक। प्रभु का मंदिर है भीतर। और हम उसे बाहर खोजते हैं, इसीलिए खो देते हैं।"

ज्ञान मंदिर, ग्वालियर, में सत्संग—

ग्वालियर नगर आचार्य श्री की बहुत समय से प्रतीक्षा कर रहा था और जब २,३,४,५ अगस्त के लिए उनका यहां आना हुआ तो जिज्ञासुओं में खुशी की एक लहर दौड़ गई। २ अगस्त की दोपहर पंजाबमेल पर उनका भव्य स्वागत किया गया। उसी रात्रि ज्ञानमंदिर लश्कर में उनका त्रिदिवसीय सत्संग प्रारंभ हुआ। सत्संग में उन्होंने जो कहा वह बंद आंखों को खोलनेवाला था। उनके शब्द तो ऐसे हैं जैसे अंधेरे में बिजली कौंध उठती है। उसके प्रकाश में अंधेरा पथ अचानक आलोकित हो उठता है। लेकिन जिनकी नींद गहरी है वे बिजली की कौंध और आवाज से भयभीत भी हो उठते हैं। शायद यही भय उनके प्राणों पर छा जाता है कि कहीं उनकी नींद ही न टूट जाय! आचार्य श्री ने यहां कहा: "मैं धर्म के नाम पर मनुष्य को अधर्म में डूबे हुये देखता हूं। इस तथाकथित अधर्म ने ही धर्म के जन्म को रोका हुआ है। और जब तक हम इस झूठे धर्म से मुक्त नहीं होंगे तब तक धर्म में हमारी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। असत्य के जाने पर ही सत्य का आगमन हो सकता है। मंदिर, मसजिद और

मूर्ति पूजा वाला यह धर्म झूठा है क्योंकि यह आंतरिक नहीं है। बाह्य से धर्म का क्या संबंध? धर्म का मंदिर तो मन में है, और धर्म का प्रभु तो भीतर है। और जिसे उसे वहां खोजना हो उसे बाहर उसकी खोज बंद कर देनी चाहिए। क्योंकि बाहर की खोज के कारण ही भीतर दृष्टि नहीं जा पाती है।"

★

"सत्य है अज्ञात। विचार अज्ञात। को नहीं जान सकते हैं। उसे जानने का द्वार तो निर्विचार चेतना है।"

माधवाश्रम, ग्वालियर, में संगोष्ठी :

आचार्य श्री के निकट सान्निध्य के लिए ३ और ४ अगस्त की प्रभातबेला में माधव आश्रम में संगोष्ठी का आयोजन किया गया। सूर्योदय के साथ ही यह संगोष्ठी प्रारंभ होती थी। आचार्य श्री जिज्ञासुओं के उत्तर देते थे। उन्होंने संगोष्ठी में कहा: "विचार से सत्य नहीं जाना जा सकता है। सत्य है अज्ञात और अज्ञात को सोचा कैसे जा सकता है? अज्ञात को जानने के लिए तो ज्ञात को छोड़ देना अत्यंत आवश्यक है। जहां ज्ञात नहीं है, वहीं अज्ञात का प्रवेश है। विचार ज्ञात हैं। इसलिए विचारों में नहीं, निर्विचार में सत्य उपलब्ध होता है।"

★

"मनुष्य के व्यक्तित्व पर सबसे बड़ी संकट छाया है महत्वाकांक्षा की। वही ज्वर है जो कि उसे अशांत और विक्षिप्त किये रहता है।"

महिला महाविद्यालय, मुरार, में प्रवचन :

आचार्य श्री ४ अगस्त की दोपहर महिला महाविद्यालय, मुरार, पधारे। छात्राओं की विशाल सभा को संबोधित करते हुये उन्होंने कहा "मनुष्य का व्यक्तित्व ज्वरग्रस्त है। और यह ज्वर है महत्वाकांक्षा का। और दुर्भाग्यों का दुर्भाग्य यह है कि शिक्षा इस ज्वर को घटाती नहीं, विपरीत और बढ़ाती है। शायद ईर्ष्या ओर द्वेष की और प्रतिस्पर्द्धा के द्वारा अहंकार को त्वरा देने के अतिरिक्त हम मनुष्य के विकास का और कोई मार्ग ही नहीं जानते हैं? लेकिन मार्ग है। जिसे हम अब तक मार्ग समझते रहे हैं, वह कोई मार्ग ही नहीं है। वह तो एक प्रकार का सन्निपात है, जिसमें दौड़ना तो हो जाता है लेकिन

पहुंचना कहीं भी नहीं हो पाता है। सम्यक् शिक्षा प्रतिस्पर्द्धा और तुलना नहीं पैदा कर सकती है। वह तो प्रत्येक व्यक्ति में जो छिपा है, उसे प्रगट करने का अवसर बनेगी। वह दूसरे की होड़ नहीं, वरन् स्वयं का विकास सिखायेगी। निश्चय ही व्यक्ति को विकास सिखाना है, लेकिन दूसरे से आगे बढ़ने की भ्रांत छाया में नहीं वरन् स्वयं से ही प्रतिपल आगे बढ़ने के प्रकाश में। और यह कार्य प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं के व्यक्तित्व की स्वीकृति, स्वयं में आनंदित होने की क्षमता, शांत होने की पात्रता और स्वयं में छिपी संभावनाओं की खोज को गति देकर किया जा सकता है।"

★

"धर्म नहीं---सीखें प्रेम। क्योंकि जहां प्रेम है वहां धर्म है।"

सावित्री सदन, लश्कर में सगोष्ठी :

५ अगस्त की सुबह आचार्य श्री ने सावित्रीसदन लश्कर में आयोजित एक विचार गोष्ठी को संबोधित किया। उन्होंने कहा: "मेरा संदेश छोटा सा है। मैं प्रेम सिखाना चाहता हूं। क्योंकि प्रेम ही परमात्मा की प्रार्थना है। धर्म की जगह यदि हम प्रेम सीखें तो धर्म तो अपने आप ही आ जाता है। जहां प्रेम है, वहीं धर्म है।"

★

"सत्य की खोज तत्व—विचार नहीं है। वह है तत्वसाधना। क्योंकि सत्य तो सदा उपलब्ध है———वह तो सदा उपस्थित है, लेकिन हम उसे देख पाने में समर्थ नहीं हैं।"

आचार्य श्री ५ अगस्त को पाटनी निवास पर आयोजित जैन मित्र मंडल की गोष्ठी में पधारे। उन्होंने वहां जिज्ञासुओं द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में कहा : "सत्य के संबंध में विचार करना नितांत व्यर्थ है। वह सत्य को जानने की राह नहीं है। वैचारिक अनुमानों से कोई कभी सत्यानुभूति तक न पहुंचा है, न पहुंच सकता है। वह दिशा बिल्कुल बांझ है। सत्य की तत्वचिंतता नहीं हो सकती है— हो सकती है तत्व-साधना। साधना आयाम ही दूसरा है। साधना में हम स्वयं पर कुछ करते हैं। सत्य पर कोरा विचार नहीं करते बल्कि स्वयं को रूपांतरित करने की दिशा में कदम उठाते हैं। चित्त अशांत है इसलिए हम अज्ञान में हैं। और चित्त जैसे ही शांत होता

है, वैसे ही ज्ञान का सूर्योदय हो जाता है। इसलिए विचार करके स्वयं को और अशांत न करें। विचार छोड़कर निर्विचार हों और शांत हों तो जिसे विचार करके नहीं पाया जाता है, वह निर्विचार होते ही ज्ञात होता है कि सदा से ही उपलब्ध है। अशांति के कारण हम उसे नहीं देख पाते थे। शांति के कारण वह हमारा अनुभव बन जाता है। इसलिए मैं कहता हूं सत्य को नहीं, खोजें शांति को। क्योंकि शांति की अनुभूति ही सत्य की अनुभूति है।"

★

"मिटो, ताकि तुम हो सको। जिस क्षण अहंकार शून्य होता है, उसी क्षण कला पूर्ण हो जाती है।"

कलाकारों की संगोष्ठी, जबलपुर में :

११ अगस्त को आचार्य श्री ने जबलपुर के चित्रकारों की एक संगोष्ठी को संबोधित किया। जीवन की प्रत्येक दिशा में उनके बड़े अनूठे और मौलिक विचार हैं। उन्होंने कहा : "वह जीवन निरर्थक है, जो कि सृजन में संलग्न नहीं है। सृष्टा होकर ही मनुष्य स्वयं में छिपे सृष्टा का अनुभव कर पाता है। इसलिए मेरे देखे तथाकथित सन्यासियों और व्यक्तियों से भी कलाकार कहीं ज्यादा परमात्मा के निकट होते हैं। लेकिन यह निकटता उसी मात्रा में अधिक होती है, जिस मात्रा में कलाकार अपन अहंकार से मुक्त होता जाता है। अहंकार ही कलाकार की मौत है। और जो कलाकार अहंकार को मृत्यु दे देता है, वह शाश्वत जीवन से संबद्ध हो जाता है फिर तो वह बस एक उपकरण मात्र ही रह जाता है और उसके माध्यम से परमात्मा स्वयं प्रगट होने लगता है। इसलिए मैं तुमसे कहता हूं : मिटो ताकि तुम हो सको। तुम्हारे होने में ही तुम्हारा मिटना है। और तुम्हारे मिटने में ही तुम्हारा होना है।"

★

चित्त को बासा और पुराना और बूढ़ा मत बनाओ। सत्य को जानने के लिये चाहिए सतत् नया और युवा चित्त। क्योंकि, सत्य सदा नया है।"

घाटकोपर, बम्बई में सत्संग :

आचार्य श्री बहु प्रतीक्षा के बाद १२, १३, १४, १५ अगस्त के लिए घाटकोपर पधारे। इस चतुर्दिवसीय सत्संग में हजारों लोगों ने उनकी अमृतवाणी सुनी। वे अपने साथ एक अलौकिक वायुमंडल लेकर ही जैसे चलते हैं। उनकी उपस्थिति

ही जैसे एक क्रांति है। वे जो कहते हैं वह हजारों हृदयों में ऐसे ही प्रवेश कर जाता है जैसे गर्मी की उत्तप्त भूमि में पहली वर्षा की बूंदें। उन्होंने यहां कहा: "मित्रो ! अतीत को छोड़ो। परंपराओं को छोड़ो। शास्त्रों और शब्दों को छोड़ो– ताकि तुम्हारी चेतना नयी हो सके, ताकि तुम नये हो सको। क्योंकि जो प्रतिपल नया नहीं है, वह परमात्मा को नहीं जान सकता है, क्योंकि वह तो प्रतिपल नया है। वह कभी बासा नहीं है। वह कभी पुराना नहीं है। और हम बासे हैं– पुराने , इसीलिए उससे सम्मिलन नहीं हो पाता है। उसे जानने को तो सतत् युवाचित्त चाहिए। और युवाचित्त कौन है ? वही जो कि प्रतिक्षण अतीत के प्रति मरता चलता है– वही जो कि अतीत को सिर पर नहीं ढोता है–– वही जो कि अतीत को सिर का बोझ नहीं वरन् पार हो जाने का मार्ग बनता है। क्या यह तुम नहीं कर सकते हो ? क्या अतीत की धूलि स्वयं पर से झाड़ देनी इतनी कठिन है ? नहीं। नहीं। प्रत्येक यह कर सकता है और नहीं कर सका है तो केवल इसलिए उसने यह नहीं करना चाहा है।"

★

"मनुष्य का मन दुष्पुर है। इसलिए जो उसे भरने निकलता है वह अंततः खाली रह जाता है। लेकिन, एक और दिशा भी है। वह है उसे खाली करने की। खाली करो और देखो। खाली होते ही पाया जाता है कि स्वयं प्रभु वहां विराजमान हैं।"

महिला महाविद्यालय, घाटकोपर, में

आचार्य श्री १४ अगस्त की दोपहर महिला महाविद्यालय की छात्राओं को संबोधित करने के लिए यहां पधारे। उन्होंने यहां कहा: "मनुष्य का मन दुष्पूर है। उसे कितना ही भरो लेकिन वह खाली ही रह जाता है। वह न धन से भरता है, न पद से, न प्रतिष्ठा से। वह भरता ही नहीं है। फिर अंततः मनुष्य उसे परमात्मा से भरना चाहता है। वह उससे भी नहीं भरता है। मोक्ष से भरना चाहता है। वह उससे भी नहीं भरता है। शायद भरना उसका स्वभाव ही नहीं है। या शायद वह पूर्व से ही भरा हुआ है और इसलिए हमारी उसे भरने की सारी चेष्टायें असफल हो जाती हैं। मैं एक और दिशा सुझाता हूं : मन को भरें नहीं–– बल्कि खाली करें। और यह जीवन का सबसे बड़ा आश्चर्य है कि खाली होते ही पाया जाता है कि मन के मंदिर में तो स्वयं परमात्मा विराजमान है।"

"स्वयं को बदलें। क्योंकि समाज, व्यक्ति और व्यक्ति के जोड़ से ज्यादा नहीं है।"

गाडरवारा में विद्यार्थियों के बीच :

आचार्य श्री १९, २०, २१, २२ अगस्त के लिए अपनी जन्मभूमि गाडरवारा पधारे। उन्होंने यहां विद्यार्थियों की एक विशाल सभा को संबोधित किया। उसी विद्यालय में उनकी अमृतवाणी को सुना, जहां कि वे कभी पढ़ते थे, एक अपूर्व आनंद था। उन्होंने यहा कहां : विश्व बड़े संकट में है। और यह संकट बाहर से नहीं, मनुष्य के भीतर से ही पैदा हुआ है। मनुष्य की अशांत और द्वन्द्वग्रस्त चित्त-स्थिति अंतः समस्त मानवजाति का आत्मघात बनने को है। क्या हम इस संबंध में निरीह दर्शक ही रहेंगे—और कुछ कर न सकेंगे ? प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग से ही यह संकट आया है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के असहयोग से ही यह संकट टल भी सकता है। मैं अशांत हूं तो मैं एक अशांत जगत् के निर्माण में सहयोगी हूं। और यदि मैं शांत हो जाता हूं तो निश्चित ही मैं एक शांत मनुष्यता के लिए आधार बनता हूं। व्यक्ति और व्यक्ति के जोड़ से समाज ज्यादा नहीं है। इस-लिए व्यक्ति की अंतस् क्रांति ही मूलतः और वास्तविक क्रांति है। स्वयं को बदलने में लगें तो आप समाज को बदलने में लग जाते हैं।

★

"स्वयं को जानना है ? आनंद को उपलब्ध करना है ? तो चित्त को विश्राम में ले चलें। जीवन में जो भी सत्य है, शिव है, सुन्दर है—सभी का द्वार शांत चित्त है।"

जीवन जागृति केन्द्र में संगोष्ठी, गाडर वारा

२२ अगस्त की रात्रि आचार्य श्री के निकट सान्निध्य के लिए जीवन जागृति केन्द्र द्वारा एक संगोष्ठी आयोजित की गई। इसमें जिज्ञासुओं की एक बड़ी संख्या ने भाग लिया। आचार्य श्री ने अपने विचार भी प्रगट किये और शंकाओं का समाधान भी किया। उन्होंने कहा : "मनुष्य के जीवन का मूल दुख क्या है ? अशांति और तनाव। और अशांति और तनाव क्यों हैं ? क्योंकि, हम चित्त को विश्राम देना ही भूल गये हैं। शरीर तो विश्राम करता भी है लेकिन चित्त को तो कोई विश्राम है ही नहीं। उसे तो हम निरंतर जीवन के कोल्हू में जोते रखते हैं। कोल्हू के बैल भी रात्रि को विश्राम करते हैं, लेकिन चित्त तो रात्रि भी सक्रिय रहता है। वह तो रात्रि भी स्वप्न देखता है—क्रोध करता है, भयभीत होता है, चिंतित होता है।

चित्त पर यह अतिभार ही व्यक्तित्व के समस्त सगीत को नष्ट कर देता है। और फिर ऐसा क्लांत और थका हुआ मन सत्य को या स्वयं को जानने में भी असमर्थ हो जाता हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिए मैं एक ही साधना के लिए प्रार्थना करता हूं और वह है चित्त को विश्राम देने की। जितना हो सके उतना चित्त को विश्राम दें। उसे खाली छोड़ें। किन्हीं क्षणों में सबसे चुपचाप मौन चित्त को देखते रह जावें। देखते देखते ही वह शांत होता जाता है। और फिर एक दिन जब पूर्ण शांति और विश्राम में होता है तो उसके दर्शन होते हैं जो कि मैं हूं। और यह दर्शन सारे जीवन को आमूल ही बदल डालता है। यह अनुभूति दुख की जगह आनंद में प्रतिष्ठा बन जाती है।

★

सत्य के सागर को पाना है तो जिज्ञासा की जीवंत और सतत प्रवाहमान सरिता बनो—— विश्वासों, मान्यताओं और पूर्वाग्रहों के बंद और मृत सरोवर नहीं।"

जीवन जागृति केन्द्र संगोष्ठी, जबलपुर

२६ अगस्त की रात्रि आचार्य श्री के सान्निध्य में जीवन जागृति केन्द्र की संगोष्ठी आयोजित हुई। जिज्ञासुओं से हाल खचाखच भरा हुआ था। और हाल के बाहर भी अनेक व्यक्तियों को खड़े रहकर चर्चा सुननी पड़ी। आचार्य श्री ने पूछे गये प्रश्नों के उत्तर दिये। उन्होंने कहा : "सत्य की खोज का पथ सतत जिज्ञासा का पथ है। जैसे सरितायें सतत सागर की ओर बढ़ती रहती हैं ऐसे ही जिज्ञासा भी निरंतर सत्य की ओर बहती रहनी चाहिए। मन विश्वासों, धारणाओं और पूर्वाग्रहों से मुक्त हो तब ऐसा हो सकता है। जिनके चित्त किन्हीं मान्यताओं में आबद्ध हो जाते हैं उनकी गति अवरुद्ध हो जाती है। फिर वे प्रवाहमान सरिता न रहकर बंद सरोवर हो जाते हैं। सत्य के सागर से उनका मिलन असंभव हो जाता है। और जिसके जीवन में सत्य के सागर से मिलन नहीं होता है, वह एक अबूझ पीड़ा और दुख और व्यर्थता से भरा रह जाता है। इसलिए मैं कहता हूं: स्वयं को खुला हुआ रखो— सब भांति मुक्त और सतत प्रवाहमान—ताकि एक दिन वह उपलब्ध हो सके जिसके लिए प्राण प्यासे और आतुर हैं।"

★

"अहंकार जहां है, वहां सृजन कहां? अहंकार सृजन का नहीं, विध्वंस का सूत्र है। कला का जन्म तो वहीं होता है जहां व्यक्ति स्वयं से शून्य और मुक्त होता है।"

कलानिकेतन, जबलपुर में, कलाकारों के मध्य संगोष्ठी:

मध्यप्रदेश राजकीय चित्रकला प्रदर्शनी के समारोप दिवस आचार्य श्री के सान्निध्य में २७ अगस्त की रात्रि कलाकारों की एक संगोष्ठी आयोजित हुई। आचार्य श्री ने कला और जीवन पर अपने विचार प्रस्तुत किये और कलाकारों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर दिये। उन्होंने यहां कहा: "जीवन में सत्य, शिव और सुन्दर की अनुभूति केवल उन्हें ही उपलब्ध होती है, जो सब भांति स्वयं से रिक्त हो जाते हैं। अहंकार से भरा हुआ व्यक्ति अंधा और बहरा होता है। उसे न कुछ दिखाई पड़ता है, न सुनाई पड़ता है। वह जीवन को जानने से ही वंचित ही रह जाता है। इसलिए अहंकार से कला का जन्म नहीं होता है। अहंकार सृजनात्मक ही नहीं है। वस्तुतः तो वही विध्वंस का मूल सूत्र है। मेरे देखे : अहंकार और सृजन दोनों विरोधी आयाम हैं। अहंकारशून्यता के क्षण ही सृजन के क्षण हैं। और इन क्षणों में जिसका जन्म होता है, वह यदि शाश्वत हो जाता हो तो आश्चर्य नहीं है क्योंकि अहंकार जहां नहीं है, वहां आत्मा के शाश्वत स्वर सहज ही सुने जाते हैं।

★

"बीज की सार्थकता बीज में ही नहीं है। वरन् उन फलों और फूलों में है जो कि वह बन सकता है। और यही जीवन के संबंध में भी सत्य है।"

पूना में सत्संग:

आचार्य श्री ३ और ४ सितंबर के लिए पूना पधारे। उन्होंने ३ और ४ सितंबर की सुबह "जीवन क्रांति की भूमिका" पर अपने विचार प्रगट किये। उन्हें सुनने के लिए एक विशाल जनसमूह उमड़ पड़ा था। लेकिन उन्हें सुनने की अति आतुरता के कारण हज़ारों व्यक्तियों की भीड़ में भी ऐसा सन्नाटा होता है कि जैसे वहां कोई भी न हो। शांति का यह दृश्य देखते ही बनता है। और इस शांतिपूर्ण वातावरण में उनके अमृत शब्द सीधे हृदय में उतर जाते हैं। शायद वे मस्तिष्क से नही, वरन् सीधे हृदय से ही बातचीत करते हैं। उनका प्रभाव अपूर्व है और उसे व्यक्त करने के लिए शब्द खोजना भी कठिन हो जाता है। उन्होंने यहां कहा: "जीवन को वैसे ही स्वीकार नहीं कर लेना है जैसा कि वह उपलब्ध होता है। जन्म के साथ जो जीवन मिलता है वह तो एक बीज

की भांति है। उस बीज को ही सम्हालकर जो बैठ जाता है, वह तो पागल ही है। क्योंकि, बीज की सार्थकता अपने आप में नहीं है। उसकी सार्थकता तो उन फूलों और फलों में है जो कि वह बन सकता है।"

★

"मनुष्य के प्रति हम अभी भी अवैज्ञानिक हैं। और यही वह भूल है जिसके कारण मनुष्य हजारों रुग्णताओं और विक्षिप्तताओं में जी रहा है।"

पूना में महाविद्यालयीन विद्यार्थियों के बीचः

३ सितंबर की रात्रि आचार्य श्री महाविद्यालयीन विद्यार्थियों के बीच पधारे। विद्यार्थी युवकों ने उनकी बातें अत्यंत प्रेम और आनंद से सुनी और उनसे अपनी बहुत सी समस्याओं के समाधान भी पूछे। आचार्य श्री ने यहां कहाः "एक नये मनुष्य को जन्म देना है। पुराना मनुष्य स्वस्थ सिद्ध नहीं हो सका। उसकी रुग्णता बहुमुखी थी। वह ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा और युद्ध में ही आज तक जीता रहा है। उसकी पूरी कथा एक लम्बी विक्षिप्तता की कथा है। और स्वस्थ मनुष्य क्यों पैदा नहीं हो सका? क्योंकि, मनुष्य के संबंध में हम अब तक वैज्ञानिक नहीं हो पाये हैं। मनुष्य के प्रति हम अब तक अंधविश्वासी और अवैज्ञानिक ही बने हुए हैं। पदार्थ जगत् के प्रति जितनी समझ का हमने परिचय दिया है, उतनी समझ का परिचय हम स्वयं के प्रति नहीं दे पाये हैं। और यहीं सारी भूल है।"

★

"मनुष्य सोया हुआ है क्योंकि मनुष्य स्वयं को ही नहीं जानता है। यह कैसे हो सकता है कि जागा हुआ व्यक्ति और स्वयं को ही न जाने? जागरण और आत्मज्ञान एक ही अनुभव के दो नाम हैं।

अहमदाबाद में सत्संगः

आचार्य श्री पर्यूषण व्याख्यानमाला के अंतर्गत ५,६,७ सितंबर के लिए अहमदाबाद पधारे। इस त्रिदिवसीय सत्संग में हजारों नर नारियों ने उनके अमृत-वचन सुने। एच. पी. आर्टस कालेज के सभा भवन में और उसके बाहर ऐसी भीड़ शायद ही कभी देखी गई हो। उनका क्रांति घोष लोगों की निद्रा तोड़ रहा है। और वे देश के एक कोने से दूसरे कोने में बोलते हुये सतत घूम रहे हैं। उनका

यह धर्म–चक्र–प्रवर्तन देश की चेतना में गहरे परिणाम लायेगा यह सुनिश्चित है। उन्होंने यहां कहा: "मैं मनुष्य को सोया हुआ देखता हूं। हम सब सोये हुए हैं। और इसीलिए तो जीवन अपरिचित और अनजाना और व्यर्थ ही बीत जाता है। और सोया हुआ मनुष्य भी कोई मनुष्य है? और सोया हुआ जीवन भी कोई जीवन है? लेकिन मेरा सोये हुये होने से क्या अर्थ है? जो स्वयं को नहीं जानता है, उसे मैं सोया हुआ कहता हूं। यह कैसे हो सकता है कि जागा हुआ व्यक्ति और स्वयं को ही न जाने? जागरण और आत्मज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।"

★

"जीवन में बहुत आनंद है––लेकिन केवल उन्हीं के लिए जिसके पास उसे भर लेनेवाला पात्र है। उस पात्र का नाम है: शांति।"

अहमदाबाद में हाईस्कूल के विद्यार्थियों के बीचः

आचार्य श्री ५ सितंबर की दोपहर हाईस्कूल के विद्यार्थियों के बीच बोलन पधारे। उन्होंने विद्यार्थियों को संबोधित करते हुये कहा: "जीवन आनंदोपलब्धि का अवसर है। लेकिन इस आनंद को केवल वे ही उपलब्ध हो सकते हैं जो कि शांत हों। शांति आनंद को पाने की अनिवार्य शर्त है। भीतर शांति हो तो बाहर आनंद है। भीतर अशांति हो तो बाहर दुख है। लेकिन हम जीवन को उल्टा ही देखते हैं ——हम भीतर से बाहर की ओर न देखकर बाहर से भीतर की ओर देखते हैं और इसी भूल में जीवन व्यर्थ हो जाता है। हम देखते हैं कि बाहर दुख है इसलिए भीतर अशांति है। बाहर आनंद है इसलिए भीतर शांति है। यह भूल बहुत महंगी पड़ती है क्योंकि इसके आधार पर चलने-वाला कभी भी आनंद को उपलब्ध नहीं हो पाता है।"

★

"परमात्मा क्या है? प्रेम––प्रेम की आत्यंतिक अनुभूति ही परमात्मा है।"

संस्कारतीर्थ, आजोल, में प्रवचनः

आचार्य श्री ६ सितंबर की दोपहर संस्कारतीर्थ, आजोल, पधारे। संस्कार-तीर्थ की बहिनों ने उनका हार्दिक स्वागत किया। वे उनके शब्दों से परिचित थीं और उनके दर्शन के लिए बहुत समय से प्रतीक्षारत। आचार्य श्री के आगमन

से यह दिवस संस्कारतीर्थ के लिए एक आनंदोत्सव में ही परिणत हो गया था। आचार्य श्री ने यहां कहा: "प्रेम प्रार्थना है क्योंकि प्रेम परमात्मा तक पहुंचने का द्वार है। जो प्रेम में प्रतिष्ठित हैं, वे परमात्मा में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इसलिए मैं कहता हूं: परमात्मा को नहीं, प्रेम को खोजो क्योंकि जो प्रेम को पा लेता है, वह परमात्मा को तो पा ही लेता है। क्योंकि प्रेम की आत्यंतिक अनुभूति का नाम ही परमात्मा है।"

★

"धर्म है जीवन–वीणा को बजाने की कला। और जो इस कला से अपरिचित है, वह जीवन संगीत से ही अपरिचित रह जाता है।"

अहमदाबाद के महाविद्यालयीन विद्यार्थियों के बीच :

७ सितंबर की दोपहर आचार्य श्री ने महाविद्यालयीन विद्यार्थियों को संबोधित किया। अनेक नागरिक भी इस सभा में उपस्थित हुए थे। आचार्य श्री ने यहां कहा: "जीवन तो एक वीणा की भांति है। वीणा होने से ही कुछ भी नहीं होता है। उसे बजाना भी आना चाहिए। धर्म जीवन वीणा बजाने की कला है। और जिसे यह कला नहीं आती है, वह वीणा लिए बैठा रह जाता है उसे स्वप्न में भी ज्ञात नहीं हो पाता है कि कैसा अपार्थिव संगीत उस पार्थिव मंत्र में छिपा हुआ था?"

★

"प्रभु तो द्वार पर खड़ा है लेकिन हम सोये हुए हैं। मित्रो ! जागो और देखो कि द्वार पर कौन खड़ा है?'

बंबई पर्यूषण व्याख्यानमाला में :

आचार्य श्री ८ सितंबर की सुबह बिरला क्रीडा केन्द्र, चौपाटी पर आयोजित पर्यूषण व्याख्यानमाला के अंतिम दिवस बोलने पधारे। उन्हें सुनने के लिये विशाल जनसागर उमड पडा। बिरला क्रीडा केन्द्र का सभा भवन तो इंच इंच भरा ही हुआ था। भवन के बाहर भी सैकडों लोग इकट्ठे थे। जनसमूह की ऐसी भावदशा देखकर स्पष्ट समझ में आता है कि लोगों की धर्म में रूचि कम नहीं है लेकिन धर्म के नाम पर बढते पांखड में जरूर अरूचि हो गई है। और इसलिये जहां भी उन्हें सत्य के दर्शन होते हैं, वे वहां प्यासे लोगों की भांति इकट्ठे हो जाते हैं। आचार्य श्री ने यहां कहा: "प्रभु तो निरंतर हमारे द्वार पर ही खडा

है, लेकिन हमारे हृदय के द्वार बंद हैं और भीतर हम सोये हुये हैं। उसे जानना है तो हृदय के द्वार खोलने होंगे और जागना होगा। और यह जागने की साधना कोई दूसरा किसी के लिये नहीं कर सकता है। प्रत्येक को ही स्वयं यह श्रम करना है। शरीर की या मन की प्रत्येक क्रिया होश से.....जागृत होकर स्मृतिपूर्वक करने से चित्त क्रमशः निद्रा के बाहर आ जाता है। और निद्रा के बाहर आना ही प्रभु में प्रवेश है।"

★

"आजीविका ही जीवन नहीं है। वह तो साधन को ही साध्य समझ लेना है। जीवन कुछ और ही है। और उसे जानने के लिये क्षुद्र से विराट की ओर गति आवश्यक है।"

बंबई विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के बीच :

८ सितंबर की दोपहर आचार्य श्री विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के बीच बोलने युनिवर्सिटी क्लब में पधारे। विद्यार्थियों ने उनका हार्दिक स्वागत किया। आचार्य श्री ने कहा: "शिक्षा का केन्द्रीय लक्ष्य क्या है? जीवन मूल्यों की दीक्षा ही न? क्षुद्र से चित्त विराट की ओर गतिमय हो, पार्थिव से अपार्थिव की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, अंधकार से आलोक की ओर.....यही न? लेकिन आज यह कहां हो रहा है! शिक्षित व्यक्ति प्रतीत होता है कि अधूरा ही शिक्षित है। शायद वह आजीविका कमा लेता है। लेकिन क्या आजीविका कमा लेना ही जीवन को भी पा लेना है? नहीं। मित्र! नहीं। आजीविका (Living) ही जीवन (Life)नहीं है। रोटी पा लेना ही सबकुछ पा लेना नहीं है। रोटी जरूरी है। उसके बिना जीना कठिन है। लेकिन अकेली रोटी पर जीना तो और भी कठिन है। कठिन ही नहीं वैसा जीना व्यर्थ भी है। आज जो सारे जगत् में अर्थहीनता का अनुभव हो रहा है, वह इस कारण ही हो रहा है। वह जीवन का कुसूर नहीं है। हमारी ही भूल है।"

★

"आत्मा के विकास की भूमिका है स्वतंत्रता। क्योंकि स्वतंत्रता में ही स्वयं में जो छिपा है, वह प्रगट होता है। स्वयं को स्वतंत्र बनाने में जो समर्थ है, वह – जीवन के विकास चरम शिखर छूने में भी समर्थ हो जाता है।"

जबलपुर विज्ञान महाविद्यालय के अशोक छात्रावास में:

११ सितंबर की संध्या आचार्य श्री विज्ञान महाविद्यालय के विद्यार्थियों के

उद्‌बोधन हेतु अशोक छात्रावास में पधारे। विद्यार्थी तो सदा ही उनके विचार अत्यंत आदर से सुनते हैं। क्योंकि उनकी वाणी में नये युग का आवाहन है। और अतीत से मुक्ति के लिये ही उनके सारे प्रयास हैं। वे मनुष्य की चेतना को नित नया और युवा देखना चाहते हैं। उन्होंने यहां कहा भी: "जीवन ऊर्जा सदा मुक्त, नयी और बंधनहीन होनी चाहिये। उसकी परिपूर्ण स्वतंत्रता में ही उसका विकास है। स्वतंत्रता की भूमि में ही सत्य के बीज अंकुरित होते हैं। और स्वतंत्रता के आलोक में ही स्वयं में ही जो छिपा है वह प्रगट होता है। इसलिये स्वयं की चेतना को सब भांति स्वतंत्र बनाये रखने को ही मैं साधना कहता हूं।"

★

काश! वह जो भीतर है, उसे पा सके तो प्रत्येक व्यक्ति एक सम्राट है। अन्यथा सभी भिखारी हैं, वे भी जो कि बाह्य संपदा के कारण स्वयं को सम्राट समझते हैं।"

महावीर लायब्रेरी जबलपुर में प्रवचन :

१२ सितंबर की रात्रि आचार्य श्री महावीर लायब्रेरी में बोलने पधारे। उन्हें सुनने के लिये आतुर लोगों से भवन खचाखच भर गया था। भवन के बाहर सडक पर भी एक घंटे तक विशाल भीड उन्हें खडे होकर सुनती रही। उन्होंने यहां कहा: "मनुष्य में अपरिसीम खजाने छिपे हैं। लेकिन हम तो भीतर की ओर देखते ही नहीं हैं, और इसलिये जो हमारा स्वरुपसिद्ध अधिकार है, उससे भी हम वंचित रह जाते हैं। काश? वह जो भीतर है, उसे जाना जा सके तो प्रत्येक व्यक्ति एक सम्राट है। अन्यथा सभी भिखारी हैं, वे भी जो बाहर की संपदा के कारण स्वयं को सम्राट मानते हैं।"

★

"साक्षी बनें। मन के तटस्थ साक्षी बनें। क्योंकि वही मार्ग है मन की परिपूर्ण शांति पाने का। और स्मरण रखें कि जहां शांति है वहीं सबकुछ है..... आनन्द भी आलोक भी, अमृतत्व भी।"

जबलपुर दशलक्षण व्याख्यानमाला में :—

आचार्य श्री १३ सितंबर की रात्रि दशलक्षण व्याख्यानमाला में बोलने पधारे। वर्षा हो रही थी तो भी इतने लोग उन्हें सुनने आये थे कि हाल में

बैठने को स्थान नहीं था। वर्षा में बाहर खडे रहकर भी अनेक लोगों ने उनकी अमृतवाणी को सुना। उन्होंने कहा: "सत्य का चन्द्रमा तो सभी झीलों के ऊपर चमक रहा है। लेकिन जो झीलें अशांत है, उनमें वह प्रतिबिम्बित नहीं हो सकेगा। शांत झीलें जरूर उसे अपना प्रतिनिधि बना लेंगी। आपका मन कैसा है? शांत झील की भांति या अशांत झील की भांति। क्योंकि आपके मन पर ही सबकुछ निर्भर है। शांत मन सत्य के लिये दर्पण बन जाता है। और सत्य की छाया में मिलता है आनन्द, आलोक, अमृत। इसलिये मन की शांति को उपलब्ध हो.....वही है धर्म, वही है योग, वही है जीवन का सार विज्ञान। और मन की शांति पाने के लिये क्या करें? मन के साक्षी बनें.....तटस्थ साक्षी। मन के प्रवाह के किनारे बैठकर देखें.....सिर्फ देखें, उस सरिता को: और देखते देखते ही पाया जाता है मन क्रमशः शांत होता जा रहा है। और जिस क्षण भी मन शांत है उसी क्षण उसकी झलकें मिलनी शुरू हो जाती हैं जो कि सत्य है जो कि स्वयं का स्वरूप है।"

★

में सिखाना चाहता हूं: मौन--निशब्द मौन। क्योंकि उसी मौन में वह जाना जाता है जो कि जीवन में सत्य है, सुन्दर है, श्रेष्ठ है।"

जबलपुर मेडिकल कालेज के विद्यार्थियों के बीच

आचार्य श्री १४ सितंबर की रात्रि मेडिकल कालेज में पधारे। मेडिकल कालेज के विद्यार्थियों और अध्यापकों ने उनका हार्दिक स्वागत किया। उनकी विवेक सम्मत वाणी से विद्यार्थी हृदय तो आंदोलित हो उठते हैं। उन्होंने यहां कहा: "शास्त्र का मूल्य नहीं है। मूल्य है सत्य का। और जो शास्त्रों में भटक जाता है, वह सत्य को उपलब्ध नहीं हो पाता है। क्योंकि शास्त्र में शब्द हैं– और सत्यानुभूति के लिए होना पड़ता है: निशब्द मौन, शून्य। क्या मित्रो! कभी तुमने उस मौन को जाना है, जहां कि शब्द होते ही नहीं है? मैं वही मौन तुम्हें सिखाना चाहता हूं क्योंकि इसी मौन में वह सब जाना जाता है जो कि जीवन में सुंदर, है, सत्य है, श्रेष्ठ है।"

★

"सत्य की यात्रा का पहला प्रस्थान बिंदु है विचार। श्रद्धा और विश्वास नहीं--चाहिए विचार --तीव्र विचार। विचार के पंख जिनके पास नहीं है वह सत्य के मुक्त आकाश में उड़ना भी चाहे तो कैसे उड़ सकता है?"

बालासिनोर में प्रथम प्रवचन :

आचार्य श्री १७ सितंबर की प्रभातवेला में बालासिनोर पधारे। उन्होंने सुबह ही नागरिकों एक सभा को संबोधित किया। इस नगर में बहुत दिनों से उनकी प्रतीक्षा थी। उनके क्रांतिकारी शब्द तो देश के कोने कोने में उनके बिना पहुंचे ही पहुंच गये हैं। और जहां भी विचारशील लोग हैं। वहीं उनकी प्रतीक्षा की जा रही है। बालासिनोर का बुद्धिजीवी वर्ग भी इस प्रतीक्षा में पीछे नहीं था। आचार्य श्री ने अपने प्रथम उद्‌बोधन में ही कहा : "श्रद्धा और विश्वास में जो बंधा है, वह जीवन के सत्य को नहीं जान सकता है। उसने तो अपने ही हाथों अपने पंख काट लिये हैं। आकाश में उड़ने के लिए जैसे पंख चाहिए ऐसे ही सत्य को जानने के लिए तीव्र विचार और विवेक की क्षमता चाहिए। विश्वासी के भीतर यह क्षमता कुंठित ही हो जाती है। दूसरों पर विश्वास के कारण वह स्वयं की इस क्षमता का उपयोग ही नहीं कर पाता है। इसीलिए सबसे पहले तो मैं विचार करने के लिए प्रार्थना करता हूं। विचार सत्य की यात्रा कर पहला प्रस्थान बिंदु है।"

★

"विचार की अग्नि में जल जाता है विश्वासों का कूडा-कचरा। और फिर जलाये जाने को कुछ न मिलने पर वह अग्नि भी बुझ जाती है। और तभी— उसी निर्विचार में वह जाना जाता है—जो कि" है"।

बालासिनोर में द्वितीय प्रवचन :

१७ सितंबर के मध्यान्ह में आचार्य श्री का दूसरा प्रवचन यहां हुआ। उन्होंने कहा: विचार की तीव्र अग्नि से विश्वासों के कूड़े कचरे को जला डालो। और फिर तुम पाओगे कि जब जलाने को कुछ भी नहीं बचता है तो जैसे अग्नि स्वयं बुझ जाती है, ऐसे ही विचार भी स्वयं विलीन हो जाती है। और तब उस निर्विचार दशा में ही वह जाना जाता है जो कि "है।"

★

"देखो-भीतर देखो। चित्त की निष्कंप दशा ही भीतर देखनेवाली आंख है। और स्मरण रखना कि जो भीतर देखने में समर्थ हो जाता है, उसके जीवन से अंधकार सदा के लिए बिदा हो जाता है।"

बालासिनोर के विद्यार्थियों के बीच :

१८ सितंबर की प्रभातबेला में विद्यार्थियों की एक विशाल सभा को आचार्य श्री ने संबोधित किया। खुले प्रांगण में वृक्षों की छाया तले हुई यह सभा बड़ी अलौकिक थी। आचार्य श्री तो अंधेरे में एक दिये की भांति हैं। उनसे तो सहज ही आलोक किरणें विकीर्ण होती रहती हैं। लेकिन जब प्यासे हृदय उनके निकट होते हैं तब तो जैसे ज्ञान की गंगा ही उनसे बहने लगती है। उन्होंने यहां कहा: "मनुष्य जाति का इतिहास दुखों और पीड़ाओं का इतिहास है। अंधकार में हैं हम अब तक भटकते रहे हैं। जबकि प्रकाश का अविनाशी स्रोत प्रत्येक के भीतर है। लेकिन हम प्रकाश को बाहर खोजते रहे हैं और इसलिए ही उसे नहीं पा सके हैं। देखो! भीतर देखो—और तुम उसे जरूर पा लोगे। मैं पाकर ही यह कह रहा हूं। लेकिन तुम पूछोगे कि भीतर कैसे देखें? मौन, शांति, शून्य है भीतर देखने की आंख। चुप हो जाओ और भीतर खोजो। एक शब्द भी भीतर न हो—विचार का एक कंपन भी न हो। और बस उसी निष्कंप दशा में तुम उसे पा लोगे जो कि तुम हो। और उसे पाते ही जीवन से सारा अंधकार सदा के लिए बिदा हो जाता है।"

★

"संदेह—सम्यक् और जीवन्त संदेह ही निसंदिग्ध ज्ञान तक ले जाने वाला सेतु है। विश्वासी चित्त तो चलता ही नहीं, उसको कहीं पहुंचने का तो सवाल ही नहीं है।"

नडियाद में महाविद्यालयों के अध्यापकों के बीच :

१८ सितंबर की दोपहर आचार्य श्री नडियाद पधारे। आते ही उन्होंने महाविद्यालय के अध्यापकों की एक सभा को संबोधित किया। अध्यापकों ने उनकी वाणी का अत्यंत प्रेमपूर्ण स्वागत किया। आचार्य श्री ने यहां कहा: "मैं श्रद्धा नहीं, संदेह सिखाता हूं। क्योंकि श्रद्धा जड़ता लाती है और संदेह खोज में ले जाता है। संदेह अत्यंत जीवन्त प्रक्रिया है। इससे गुजरकर कोई निसंदिग्ध ज्ञान तक भी पहुंच सकता है। लेकिन, विश्वास करने वाला चित्त यात्रा ही नही करता है। उसके कहीं पहुचने का तो सवालही नहीं है।

"बाहर है मृत्यु लेकिन भीतर–भीतर कोई मृत्यु नहीं है। वहां तो जीवनों का जीवन विराजमान है। लेकिन जो खोजता है, वही उसे पाता है।"

नडियाद में जन सभा :

१८ सितंबर की रात्रि आचार्य श्री ने टाउनहाल में आयोजित विशाल जन सभा को उद्‌बोध दिया। सर्वप्रथम नडियाद के नागरिकों की ओर से उनका भावभीना स्वागत किया गया और उनके क्रांतिकारी व्यक्तित्व और विचारों का परिचय दिया गया। तत्पश्चात् आचार्य श्री ने अपने प्रवचन में कहा: "वह जो अत्यंत निकट है, उसे हम दूर की खोज में खोदेते हैं। वह जो हमारे भीतर ही है उसे हम बाहर की दौड़ में खोदेते हैं। ऐसे जीवन रिक्त होता है और मृत्य निकट आती है। मैं पूछना चाहता हूं कि इस तथाकथित जीवन में हम मृत्यु के अतिरिक्त और क्या उपलब्ध कर पाते हैं? क्या यह बहुत अजीब सी बात नहीं कि जीवन की खोज और दौड़ से अंततः मृत्यु हाथ में आती है? होना तो उल्टा ही चाहिए। होना तो चाहिए कि जीवन अमृतत्व को उपलब्ध हो तो ही हम उसे सफल भी कह सकते हैं। लेकिन निराश होने का कोई कारण नहीं है: जीवन अमृतत्व को उपलब्ध हो सकता है। काश! हम स्वयं की गहराइयों में उसे खोजें तो वह तो अमृत है ही। बाहर है मृत्यु लेकिन भीतर कोई मृत्यु नहीं है।"

★

"मनुष्य जो खोजता है वही हो जाता है। उसकी खोज—उसकी आकांक्षा –उसकी प्यास ही अंततः उसकी प्राप्ति बन जाती है। क्षुद्र को जो खोजता है वह क्षुद्र हो जाता है, और जो विराट को खोजता है वह विराट हो जाता है।"

नडियाद महिला महाविद्यालय में :

१९ सितंबर की सुबह आचार्य श्री ने महाविद्यालयीन छात्राओं की विशाल सभा को संबोधित किया। आचार्य श्री के शब्द तो जैसे एक कविता हैं और उनकी वाणी तो जैसे एक संगीत है। वे अपने विचारों के संगीत में सबको पृथ्वी से स्वर्ग की ओर बहा ले जाने में सफल हो जाते हैं। आह! थोड़ी देर को एक और ही जगत् निर्मित हो जाता है। आचार्य श्री ने कहा: "भिखारी बनना है या सम्राट? भिखारी बनना हो तो क्षुद्र की खोज करो और सम्राट बनना हो तो विराट की। क्योंकि क्षुद्र की खोज में खोजनेवाला भी क्षुद्र हो जाता है और विराट की खोज में विराट। मनुष्य जो खोजता है, वही हो जाता है।"

"परमात्मा के द्वार को खोल लेना अत्यंत सरल है। शर्त एक ही है: क्या आपके पास शांति की कुंजी है?"

नडियाद महाविद्यालयों के छात्रों की विशाल सभा :

१९ सितंबर की दोपहर आचार्य श्री महाविद्यालयीन विद्यार्थियों के उद्-बोधन के लिए पधारे। हजारों विद्यार्थियों ने उन्हें मंत्रमुग्ध होकर सुना। उन्होंने यहां कहा: "परमात्मा के द्वार को खोल लेना अत्यंत सरल है। लेकिन ठीक कुंजी न हो तो सब कठिन हो जाता है। और कुंजी कहां है? कुंजी है प्रत्येक व्यक्ति स्वयं। अशांत व्यक्ति ठीक कुंजी नहीं है। शांत व्यक्ति ठीक कुंजी है। शांति की कुंजी से ही सत्य के द्वार पर लगा ताला खुलता है।"

★

"धर्म को बचाना है। लेकिन किससे? अधार्मिकों से? नहीं तथाकथित धार्मिकों और धर्मों से ही धर्म को बचाना है।"

कपड़वंज लायन्स क्लब में :

आचार्य श्री १९ सितंबर की संध्या कपडवंज पधारे। लायन्स क्लब की ओर से उनका भव्य स्वागत किया गया। रात्रि में क्लब द्वारा आयोजित सभा में उन्होंने कहा: "जीवन धर्म से विहीन हो गया है। और यह अधार्मिकों के कारण नहीं हुआ है। यह हुआ है धर्म के नाम पर चलते पाखंडों के कारण। उनकी ही प्रतिक्रिया स्वरूप लोग धर्मविमुख हो गये हैं। धर्म पाखंड से मुक्त हो तो मनुष्य पुनः धार्मिक हो सकता है। धर्म को तथाकथित धर्मों और धार्मिकों से बचाना है। सभी सोच विचारशील व्यक्तियों के समक्ष आज इससे बड़ा और कोई पुनीत कार्य नहीं है।"

★

"जन्म ही जीवन नहीं है। और न मत्यु ही जीवन की समाप्ति है। जो जीवन को जान लेता है वह तो पाता है कि जन्म और मृत्यु वस्त्रों की बदला-हट से ज्यादा नहीं है।"

कपड़बंज महाविद्यालय में :

२० सितंबर की सुबह आचार्य श्री ने महाविद्यालय के विद्यार्थियों को संबो-धित किया। अत्यंत शांति में संपन्न हुई इस सभा में उन्होंने कहा: "जीवन एक कला है। और कला ही नहीं वह परम कला है। जीवन भी सीखना पड़ता है। वह

भी रेडीमेड नहीं मिलता है। उसे भी बनाना और निर्मित करना होता है। और जो व्यक्ति जन्म को ही जीवन मानकर रुक जाते हैं, वे जीवन को न जान पाते हैं और न ही जी पाते हैं। जन्म ही जीवन नहीं है। जीवन तो जन्म के भी पूर्व है। जीवन तो मृत्यु के पश्चात् भी है। जन्म और मृत्यु तो जीवन के ही मध्य में घटी दो घटनायें हैं। और जो जीवन को जान लेता है, वह तो जानता है, कि जन्म और मृत्यु वस्त्रों की बदलाहट से ज्यादा नहीं है।"

★

"देखो–जीवन के रहस्य को देखो। क्योंकि, रहस्यानुभूति में ही छिपा है धर्म। रहस्य में ही छिपा है प्रभु। रहस्य में ही छिपा है सत्य।"

कपडवंज में नागरिकों की विशाल सभा :

२० सितंबर की रात्रि टाउनहाल में आचार्य श्री की वाणी सुनने के लिए सारा नगर ही उमड़ पड़ा था। उनके व्यक्तित्व में ऐसा ही चुम्बकीय आकर्षण है। एक अद्‌भुत सम्मोहन है उनमें। जो कि सभी के हृदय में अपना प्रभाव पैदा करता है। उन्होंने यहां कहा: "मित्रो! मैं जागकर जीवन को देखने के लिए निवेदन करने आया हूं। जागकर देखो–स्वयं में और स्वयं के बाहर भी। तो तुम पाओगे कि एक अनूठा रहस्य जगत तुम्हें घेरे हुये हैं। इसी रहस्य में प्रवेश धर्म है। धर्म शास्त्रों में नहीं है धर्म। धर्म है जीवन के रहस्यानुभव में। अज्ञात की अनुभूति में है धर्म। इसीलिए उधार ज्ञान को छोड़ो और सरलता से जीवन को देखो। वह दर्शन तुम्हें उस ज्ञान पर ले जायेगा जो कि जीवन को सब बंधनों से मुक्त कर देता है।"

★

"धर्म अंतस् जीवन की क्रांति है, बाह्य बदलाहट नहीं।"

जीवन जागृति केन्द्र जबलपुर द्वारा आयोजित विशाल जनसभा में :

३० सितंबर को जीवन जागृति केन्द्र जबलपुर द्वारा शहीद स्मारक भवन में एक जनसभा का आयोजन किया गया। जबलपुर नगर का विचारशील एवं प्रबुद्ध जनमानस आचार्यश्री की अमृतवाणी को सुनने के लिये तीव्र आतुर रहता है। यह आतुरता इस दिवस देखते ही बनती थी। शहीद स्मारक भवन तो जिज्ञासु नागरिकों से खचाखच भरा ही हुआ था भवन के बाहर भी बड़ी संख्या में जिज्ञासु नागरिकों ने आचार्य श्री की वाणी को सुना। आचार्य श्री ने कहा: "धार्मिक जीवन अंतस् चेतना की क्रांति है, बाह्य बदलाहट से उसका दूर का भी

संबंध नहीं है। जो नीति साध साध करके लाई जाती है वह कभी भी टूट सकती है लेकिन अंतस् में बदलाहट से जो नीति सहज में जीवन में आती है वही केवल स्थायी होती है।"

★

"मनुष्य में कोई विभाजन संभव नहीं... वह समस्त विश्व में अखंड इकाई है।"

डा. बिजलानी के निवास पर विचारगोष्ठी :

देश के कौने कौने में आचार्य श्री के प्रवाहित प्रेम से अनेकों प्रेमी आचार्य श्री के सन्निकट आये हैं। इनके प्रेममय प्रवाह में आचार्य श्री के कार्यक्रम इनके निवास पर भी आयोजित होते हैं। पिछले १ अक्टूबर को जबलपुर नगर के एक प्रेमी डा. बिजलानी के निवास पर आचार्य श्री की विचार संगोष्ठी का आयोजन हुआ जिसमें विभिन्न वर्गों के नागरिकों ने भाग लिया। डा. बिजलानी ने आचार्य श्री का परिचय देते हुये कहा: "मैं पेशे से डाक्टर हूं और मैंने अनेक आपरेशन करके यह पाया कि मनुष्य, 'मनुष्य में तो कोई भेद नहीं है, लेकिन यह मेरी समझ के बाहर था कि मनुष्य ने अपने ही भीतर अनेक विभाजन कर रखे हैं। मैं मनुष्य की आंतरिक एकता को समझता था लेकिन मुझे ऐसा कोई व्यक्ति उपलब्ध नहीं हुआ था जो यह कह सके कि मनुष्य एक अखंड इकाई है। मैं जब आचार्य श्री के सन्निकट आया तो मुझे अपनी प्रतीति का साकार अनुभव हुआ और मैंने आचार्य श्री में मनुष्य की अखंडता के दर्शन किये। मैं इससे अधिक कुछ भी नहीं कह सकता कि आचार्य श्री हमारे बीच में संपूर्ण मनुष्य के हृदय सम्राट हैं।"

आचार्य श्री ने अपने उद्‌बोधक प्रेरणा संदेश में कहा : "मनुष्य समग्र विश्व-सत्ता की इकाई मात्र है। उसका किसी भी प्रकार का विभाजन असंभव है। और जब तक यह विभाजन है: व्यक्ति चेतना दुख में और पीडा में रहने को है। जैसे ही व्यक्ति को अपनी आंतरिक अखंडता का बोध होता है उसका सारा जीवन ही बदल जाता है। वह प्रेम और आनन्द के जीवन को उपलब्ध होता है और उसके भीतर अखंड चेतना प्रवाहित होती है।"

★

"अच्छे व्यक्ति का सत्ता से कोई विरोध नहीं हो सकता।"

गांधी जन्म दिवस पर डी. एन. जैन कालेज भवन जबलपुर में वार्ता :

जबलपुर नगर के विविध क्षेत्रों में आचार्य श्री के कार्यक्रम आयोजित होते हैं, जिनम एक अभिनव क्रांति की लहर आचार्य श्री से संचारित

होती है। २ अक्टूबर को गांधी जन्म दिवस के अवसर पर डी. एन. जैन कालेज भवन में एक विचार वार्ता का आयोजन किया गया। अपनी वार्ता में आचार्य श्री ने कहा! "गांधीजी के जीवन में दो बुनियादी तत्व थे। एक तत्व था: धर्म और सेवा का और दूसरा राजनीति का। सारे जीवन उन्होंने राजनीति में धार्मिक जीवन दृष्टि का प्रयोग किया। लेकिन बाद में जब सत्ता काँग्रेस के हाथ में आई तो गांधीजी ने अपने को सत्ता से पीछे खींच लिया। इसके पीछे भारत की पुरातन सिखाई हुई परंपरा काम कर गई कि सत्ता से धार्मिक व्यक्ति को, सेवक को दूर रहना चाहिए। उसे सत्ता से क्या प्रयोजन? लेकिन मेरे देखे यह भ्रांत जीवन दृष्टि है। सत्ता से गांधी जैसा भला आदमी दूर हो जायेगा तो स्वाभाविक है सत्ता गलत लोगों के हाथ में जायगी। अगर गांधी ने विचार किया होता और पुरातन संस्कारों में न खोजा होता हल को तो भारत का पूरा नक्शा ही दूसरा होता. एक बडी गल्ती थी जो गांधी से हुई। सत्ता का और अच्छे आदमी का तो कोई विरोध ही नहीं है। बल्कि सत्ता तो अच्छे हाथों में जाना ही चाहिए।"

★

"धर्म की ओर पहला कदम क्या है? मानसिक गुलामी की जंजीरों को तोड डालना। श्रद्धाओं, विश्वासों और अंधी मान्यताओं से मुक्त हो जाना ही धर्म की ओर पहला कदम है।"

धुलिया में सत्संगः

आचार्य श्री ४ और ५ अक्टूबर के लिये धुलिया पधारे। उन्होंने धुलिया में तीन जनसभाओं को संबोधित किया। धुलिया की विचारशील जनता में उनके विचारों से क्रांति की एक लहर फैल गई। जीवन के प्रति उनका दृष्टि-कोण ही नया और मौलिक है। उनकी प्रत्येक बात उनकी अपनी ही अनुभूति से उत्पन्न है। फिर वे इतनी सरलता से प्रत्येक बात समझाते हैं कि वह सभी की समझ में आ जाती है। बूढे और बच्चे सभी उन्हें सुनकर आनन्दमग्न हो उठते हैं। उन्होंने यहां कहा:" धर्म का श्रद्धा और विश्वास से संबंध अत्यंत घातक सिद्ध हुआ है। उसके कारण ही धर्म अंधविश्वास बन सका है और हजारों वर्षों से मनुष्य को अंधकार में रहना पड रहा है। विश्वास मानसिक अंधेपन और गुलामी का ही दूसरा नाम है। और मानसिक रुप से गुलाम चेतना कैसे मुक्त हो सकती है.....कैसे आनन्द पा सकती है.....कैसे आलोक को उपलब्ध हो सकती है? इसलिये मेरी दृष्टि में तो व्यक्ति की चेतना में धार्मिक क्रांति की शुरुआत अंधविश्वासों के सारे जाल को तोड देने से ही शुरू होती है। धर्म की ओर वही पहला कदम है।"

"जीवन का संगीत है संतुलन में। अतिवाद पीडा है, तनाव है। न शरीर न आत्मा। न विज्ञान न धर्म.....वरन् जीवन की समग्रता और पूर्णता पर एक संस्कृति निर्मित करनी है।"

धुलिया महाविद्यालय में

४ अक्टूबर की सुबह आचार्य श्री का आगमन धुलिया महाविद्यालय के विद्यार्थियों के बीच हुआ। विद्यार्थियों ने उनकी वाणी अभूतपूर्व शांति और तन्मयता से सुनी। आचार्य श्री ने यहां कहा: "धर्म भी अकेला अधूरा है और विज्ञान भी। शरीर और आत्मा के अद्‌भुत मिलन और संतुलन में जैसे मनुष्य का जीवन है ऐसे ही धर्म और विज्ञान के संतुलन से ही मनुष्य की संस्कृति का जन्म हो सकता है। अबतक की सारी सभ्यतायें और संस्कृतियां अधूरी थीं। इससे ही उनसे मनुष्य का कल्याण भी नही हुआ। या तो वे शरीरवादी थीं या आत्मवादी; लेकिन ये दोनों अतियां हैं। और अति एक तनाव है। वह एक रोग है। वह एक पीडा है। जीवन का संगीत तो सदा संतुलन में हैं, मध्य में है, अति में नहीं, अनअति में है, भविष्य में एक ऐसी ही पूर्ण संस्कृति को जन्म देना है। वह पूर्ण संस्कृति ही मनुष्यता को दुखों और पीडाओं के ऊपर उठा सकती है।"

★

"सम्यक् संदेह व्यक्ति को सत्य में प्रतिष्ठित करता है।"

जीवन जागृति केन्द्र जबलपुर के त्रिदिवसीय सत्संग में:

८, ९ तथा १० अक्टूबर को जबलपुर में डा. सेठ गोविन्ददासजी एंवं जीवन जागृति केन्द्र द्‌वारा शहीद स्मारक भवन में आचार्य श्री का सत्संग का कार्यक्रम आयोजित किया गया। सत्संग के मध्य अभूतपूर्व जीवन क्रांति की लहर समूचे नगर में व्याप्त हो गई। आचार्य श्री की जीवन दृष्टि ही इतनी क्रांतिकारी एवं अभिनव है कि उसकी किरणें शीघ्र ही चारों ओर बिखर जाती हैं। अनेको मानवीय जीवन अंतर्प्रेरणा से भरते हैं और जीवन सत्ता की खोज में गतिवान होते हैं। अपने सत्संग के क्रांतिकारी प्रवचनों में आचार्य श्री ने कहा: "सत्य कोई कल्पना अथवा विचार नहीं है। इससे श्रद्धा से नहीं, सम्यक् संदेह से सत्य को जाना जा सकता है। सम्यक् संदेह का विज्ञान ही सत्य के साधक को सत्य जीवन की ओर गति देता है। श्रद्धा तो व्यक्ति को सुलाती है और बिना जाने ही व्यक्ति का चित्त उधार निष्पत्तियों से भर जाता है। सम्यक् संदेह व्यक्ति को सतत् श्रम की ओर प्रेरित करता है और स्वयं ही जब तक व्यक्ति सत्य के जीवन में प्रवेश नहीं कर लेता अपनी खोज जारी रखता है।"

आचार्यश्री रजनीशजी के
११ दिसम्बर ६७ को

३७ वें जन्मदिन पर

सम्प्रबुद्ध दीर्घायु की मंगल कामना

जब कभी भी कोई मित्र आ. श्री रजनीशजी की तात्विक चर्चा के सन्दर्भ में मुझसे प्रश्न करता है कि–क्या आपने कभी आचार्यश्री के पुण्य दर्शन का सुयोग्य प्राप्त किया है?" तब मैं कुछ क्षण मौन रहकर कहता हूं–"नहीं।" मित्र आश्चर्यचकित होकर मुझसे पूछता है–"क्यों? क्योंकि मेरे मित्रों को यह भलीभांति ज्ञात है कि मेरे पिताश्री के तथा आचार्यश्री के बीच कितनी आत्मीयता और घनिष्ठता के सम्बन्ध हैं। मैं अपने उक्त मित्र से कहता हूं– "मित्र, आ. श्री से तो शायद ही कोई उन्ही के स्तर का व्यक्ति परिचित हो पाया हो। अन्यथा मेरी दृष्टि में तो अभी तक कोई भी उनसे पूर्ण परिचित नहीं दीखा है।".

यों मुझे भी आ. श्री के समीप दो–दो तीन–तीन घण्टे, उनके जबलपुर स्थित निवास स्थान पर बैठकर, उनके श्रीमुख से "सत्य" विषयक गहन, सूक्ष्म, आध्यात्मिक, गंभीर चर्चाएं श्रवण करने का सुयोग अनेक बार प्राप्त हुआ है। जो अनेक वर्षों के अनवरत अध्ययन चिन्तन तथा व्यवहारिक जीवन में आचारित होकर ही हमारे समक्ष स्वयं प्रस्तुत होती है। स्वयं प्रस्तुत इसलिए कि सूर्य कभी भी किसी से यह कहते हुए नहीं पाया गया कि 'मेरे इस प्रकाश को मैं प्रस्तुत कर रहा हूं।" या "मेरी इन ज्योति रश्मियों को में ही विश्व में प्रचारित कर रहा हूं।" ऐसे परमहंस, विदेही निष्पृह व्यक्ति को, अभिप्साओं तथा अभावों से पीड़ित वासनाओं में लिप्त तथा अनेक दुःखों से संतप्त मनुष्यों की भीड़ में खोज पाना बड़ा कठिन और दुर्गम कार्य है। और जो उक्त कार्य में सफल हो गया है उसके लिए दर्शन का विधि बोध सहज हो गया जानिये।

११ दिसम्बर ६७ को आ. श्री रजनीशजी अपनी पुण्य वय का ३६ वां ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण वर्ष समाप्त कर ३७ वें वर्ष की मंगलमय यात्रा प्रारम्भ कर रहे हैं। विगत वर्षों में आ. श्री के द्वारा अनेक प्रबुद्ध साधना शिविरों का प्रतिष्ठापन, क्रांतिकारी जागरण के लिए प्रेरणात्मक साहित्य सृजन तथा अनेक तूफानी धर्म चक्र प्रवर्तक यात्राओं के द्वारा असंख्य जिज्ञासु मुमुक्षुओं को जीवन जागृति के अन्यत्र अनुपलब्ध सूत्रों की उपलब्धि संभव हुई हैं। आचार्य के ओजस्वी प्रवचनों से अनेक व्यक्तियों को कुछ ऐसी मौलिक संदृष्टियां प्राप्त हुई है जिनके माध्यम से उन व्यक्तियों ने अपने अस्वस्थ और त्रुटिपूर्ण जीवन को स्वस्थ और संशोधित कर उसे जीने योग्य बनाकर वे अद्‌भुत सौख्य का अनुभव कर रहे हैं। हिन्दी के अ. भा. मुर्धन्य साहित्यकारों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था "नव-लेखन प्रतिष्ठा क्लब" की ओर से उसके संचालक के नाते तथा अपनी स्वयं की ओर से भी उन आचार्य श्री जी की सम्प्रबुद्ध दीर्घायु की कामना करता हूं जिन्होंने जीवन को जिया है, उसके अमरत्व के रहस्य को समझ बूझकर उसका समुचित उपयोग भी किया है।

"राजेन्द्र सुमन"

स्वर्गीय किशनदास छाब्रा : एक विरल व्यक्ति

गत ११ नवम्बर को फिल्मी जगत् के सुप्रसिद्ध शराफ तथा फिल्म वितरक श्री किशनदास छाब्रा के दुखद अवसान के समाचार स्थानीय समाचार पत्रों में प्रगट हुए। उनके व्यक्तित्व का एक आध्यात्मिक पहलु भी था, जिसकी जानकारी कईयों को नहीं थी। इसलिए इस विषय में कुछ लिखना उचित लगता है।

एक डेढ साल पहले की बात है। हम दोनों परस्पर एक दूसरे से बिल्कुल अपरिचित ही थे। एक दिन मेरे पास उनका टेलीफोन आया। उन्होंने पूछा– आपका शुभ नाम जटुभाई ही है न१. मैंने हां कहा। तब उन्होंने पूछा–"क्या मैं आपके पास अभी मिलने के लिए आ सकता हूं?" मैंने हा भरदी और वे कुछ ही देर के बाद दफ्तर में आ गये।

उन्होंने कहा–"कल मैंने आचार्यश्री राजनीशजी का प्रवचन सुना था। उसका मेरे मन पर बड़ा प्रभाव हुआ है। मेरे युवा पुत्र की आकस्मिक मृत्यु से जो आघात मुझे लगा था और मेरा हृदय व्याकुल था, कल उनके (आ. श्री रजनीशजी के) व्याख्यान को सुनकर मेरे मन में अपार शांति उत्पन्न हुई है। मैं आपको और आपकी इस प्रवृत्ति को किस प्रकार उपयोगी हो सकता हूं?"

मैंने कहा–"आप आचार्यश्री रजनीशजी के प्रवचनों का लाभ लेते रहे। वे जब भी बम्बई पधारेंगे में आपको इसकी सूचना देता ही रहूंगा।"

उन्होंने कहा–"यह तो ठीक है परन्तु इस प्रवृत्ति को चलाने में आपका खर्चा भी तो होता ही होगा। मेरी ओर से इतनी भेंट स्वीकार करे" और ऐसा कहते हुए उन्होंने ५०० रुपये का चेक मेरे हाथ में पकडा दिया। और कहा कि "यदि, अधिककी आवश्यकता पड़े तो मंगवा लेना। यह मेरा पता है और यह कहकर अपना 'विजिटिंग कार्ड' मेरे हाथ में दिया।

इसके उपरान्त तो वे आ. श्री रजनीशजी के प्रवचनों में और शिबिरों में बराबर हिस्सा लेते रहे। इसी भांति बाहर गांव में जहां कहीं भी आ. श्री. के

प्रवचन या शिबिर आयोजित किये गये वहां वे अवश्य पहुंचे। एक बार वे हम सभी मित्रों के बीच में बैठे हुए थे तब उन्होंने हमें सम्बोधित करते हुए कहा– "आचार्यश्री के साहित्य प्रचार के लिए आप सब अब पूरी ताकत से जुट जांय। नयी योजना बनावे। उस कार्य के लिए यदि पांच–पच्चीस हजार की आवश्यकता हो तो मैं दूंगा। काम तो मुझसे होगा नहीं। सब जबाबदारी आपको ही संभालनी पड़ेगी।" उनके हृदय की विशालता का अनुभव मुझे बारम्बार होता रहा।

ता. ११ नवम्बर को आ. श्री राजकोट जाने के लिए जबलपुर से बम्बई आये। श्री छाब्राजी का स्वास्थ्य अच्छा न रहते हुए भी और अपनी बीमार पत्नी को छोड़कर वे उनकी अगवानी करने बोरीबन्दर स्टेशन पर आये थे। रात को वे आ. श्री से मिले थे और उन्हें अपने घर भी ले गये थे। घर पहुंचते ही उन्हें हृदय रोग का दौरा हो गया और उसी रात को ११ बजे वह सहृदयी, सरल और दानी प्रकृति का पुरुष चल बसा।

उनका धन्धा तो फिल्मी जगत के साथ था, लेकिन उनके जीवन में आध्यात्मिकता कूट–कूट कर भरी हुई थी। फिल्मी जगत और उनके अन्य व्यवसायों के साथी मित्रों को तो शायद इस बात की कल्पना भी न हो, कि वे इतने शांत और सरल स्वभाव के हैं।

उनके अवसान के दूसरे दिन ही उनकी धर्मपत्नी श्रीमती जयदेवीजी भी इस संसार को छोड़कर चली गयी। जीवन जागृति केन्द्र ने अपना एक उदार हितचिन्तक गंवा दिया इसका अपार दुःख तो है ही लेकिन इस प्रकार अचानक ऐसी विरल आत्मा का देहत्याग हमें विचार करने के लिए बाध्य करता है कि अन्त समय तक उनका मन कितना सरल और शान्त था।

जटुभाई महेता
मंत्री
जीवन जागृति केन्द्र

आचार्य रजनीशजी के आगामी कार्यक्रम

९, १०, ११,, ज्ञानसत्र, इलाहाबाद "उ. प्रदेश"
१२, १३, १४,, ज्ञानसत्र, दिल्ली
८, ९, १०, जनवरी १९६८ ज्ञानसत्र, बड़ोदा "गुजरात"
१४ जनवरी, नागपुर "महाराष्ट्र"
२०, २१, २२, २३, जनवरी, ज्ञानसत्र, माटुंगा, बम्बई
२६ जनवरी, लखनादौन
१, २, ३, ४, ५, ६, फरवरी साधनाशिबिर, संस्कारतीर्थ, आजोल "गुजरात"
१७, १८, १९, फरवरी साधनाशिबिर, मांडवगढ़, इन्दौर, "म. प्र."
१, २, ३, मार्च ज्ञानसत्र बलसार "गुजरात"
१५, १६, १७ मार्च पूना, "महाराष्ट्र"
२९, ३०, ३१, मार्च ज्ञानसत्र, राजकोट "सौराष्ट्र"

—००—

जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई द्वारा प्रकाशित आचार्य रजनीश साहित्य

हिन्दी साहित्य

साधनापथ	मू० रुपया	२–००	स्पेशल प्रति	२–५०
क्रांतिबीज	"	२–००	"	२–५०
सिंहनाद	"	१–५०		
अमृतकण	"	०–४०		
पथ के प्रदीप	"	४–५०		
मिट्टी के दिये	"	३–००		
अहिंसादर्शन	"	०–४०		
कुछ ज्योतिर्मय क्षण	"	०–४०		

नये मनुष्य के जन्म की दिशा	"	०–४०	
मैं कौन हूं	"	१–२५	
प्रेम के पंख	"	०–७५	
नये संकेत	"	१–७५	
सूर्य की ओर उड़ान	"	१–००	
सत्य के अज्ञात सागर का आमंत्रण	" छप रही है	"	

गुजराती साहित्य

साधनापथ	२–००	
क्रांतिबीज	२–००	स्पेशल प्रति २–५०
सिंहनाद	१–२५	
अमृतकण	०–५०	
अहिंसादर्शन	०–५०	
केटलीक ज्योतिर्मय क्षण	०–७५	
नवा मनष्य ना जन्म नी दिशा	०–७५	
माटी ना दिवा	३–००	स्पेशल प्रति ३–५०

मराठी साहित्य

साधनापथ	३–००	
सिंहनाद	२–००	
अमृतकण	०–५०	
क्रातिबीज	"	
अहिंसादर्शन	०–५० पै.	

अंग्रेजी साहित्य

पाथ आव सेल्फ रियेलायजेशन	२–२५	

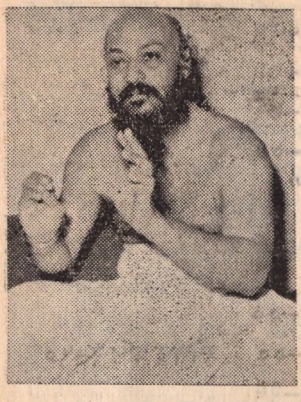

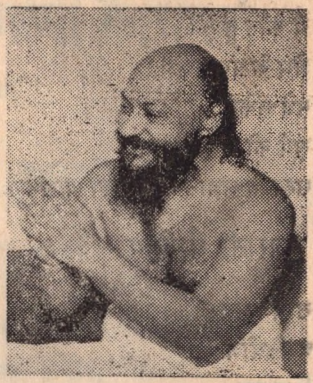

सौराष्ट्र के फोटो-ग्राफरों के द्वारा चित्रित आचार्य श्री रजनीशजी की लाक्षणिक मुद्राएं

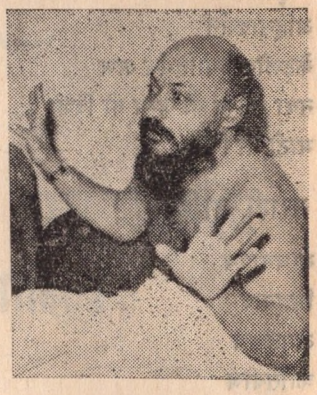

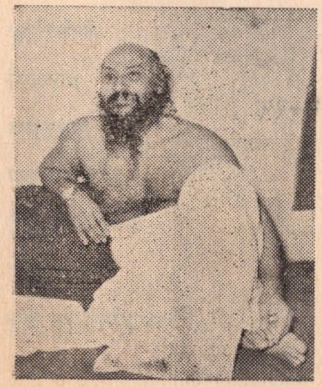

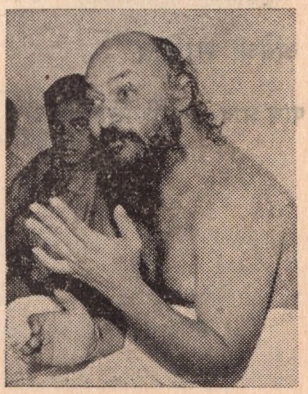

अमृतसर में अ. भा. वेदान्त सम्मेलन द्वारा आयोजित समारोह में व्याख्यान देते हुए आचार्यश्री रजनीशजी

६

मनुष्यके आध्यात्मिक पुनरुत्थानके लिए समर्पित